॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला
१८९

भारतीय रसपद्धति

"नाग्निधूते तमः स्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ।" चरक

लेखक
कविराज श्री अत्रिदेव गुप्त
विद्यालंकार; भिषग्रत्न

॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला

१८६

॥ श्रीः ॥

भारतीय रसपद्धति

लेखक

विद्यालङ्कार-भिषग्रत्न

कविराज श्री अत्रिदेव गुप्त

भूमिका-लेखक

भिषगाचार्य कविराज श्री हरिरञ्जन मजुमदार, एम० ए०

प्रकाशकः—

जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः

चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस,

विद्याविलास प्रेस, बनारस।

० २००६] मूल्य १॥) [सन् १६४६

मुद्रक—

जयकृष्णदास गुप्त,

विद्याविलास प्रेस, काशी।

गुरुकुल विश्वविद्यालय के अन्तर्गत आयुर्वेद महाविद्यालय

के भूतपूर्व प्रिन्सिपल आयुर्वेदाचार्य, विद्यालंकार,

सिद्धान्तालंकार, प्राच्य-पाश्चात्य

चिकित्सा के मर्मज्ञ-

श्री वैद्य धर्मदत्त जी

की

सम्मति—

श्री कविराज अत्रिदेव जी की लिखी पुस्तक भारतीय रसपद्धति

मैंने आद्योपान्त पढ़ी है।

आयुर्वेद-विद्यालयों में रसतन्त्र का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये उपलब्ध ग्रन्थों में यह सर्व श्रेष्ठ है। आयुर्वेद के विद्यार्थियों को इससे लाभ उठाना चाहिये।

१२ मई ४६

भूमिका

भारतीय रसायनशास्त्र के सम्बन्ध में अब तक जितने ग्रन्थ लिखे गये हैं, वे या तो प्राचीन सूत्र-रूप में, अथवा आधुनिक पाश्चात्य रसायनशास्त्र केमिस्ट्री के दृष्टिकोण से ही लिखे गये हैं। प्राचीन ढंग सर्वोत्तम होते हुए भी वह आज कल के विद्यार्थियों के लिये, जिन में अधिकतर संस्कृत में कच्चे होते हैं, अनुपयोगी है। तथा आधुनिक केमिस्ट्री के साथ भी भारतीय रसशास्त्र का कोई सम्बन्ध न होने से उस दृष्टि कोण से लिखी गई पुस्तकों से भी आयुर्वेदीय रसशास्त्र का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

भारतीय रसशास्त्र के ग्रन्थकार इस सम्बन्ध में ठीक ही कहते हैं कि-"भारतीय रसशास्त्र का उद्देश्य आधुनिक केमिस्ट्री से सम्पूर्ण रूप में भिन्न है। आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से, आयुर्वेद के प्रयोजन के अनुसार तथा छात्रों के उपयोगी सरल रीति से लिखी गई भारतीय रसशास्त्र की पुस्तक का अभाव बना ही हुआ है।

"भारतीय रसपद्धति" के ग्रन्थकार कविराज श्री अत्रिदेव गुप्तजी ने इस अभाव के क्षेत्र में प्रवेश कर अपना स्वतन्त्र चिन्तन तथा अनुसन्धान का फल सरल भाषा में तथा आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से वैद्यसमाज के सम्मुख उपस्थित किया है। आप का उद्यम सराहनीय है। मुझे आशा है, इस ग्रन्थ को लोग अपना कर लेखक का उत्साह-वर्द्धन करेंगे, जिस से आयुर्वेद-जगत् को इन की सेवाओं का फल मिलता रहे।

—हरिरञ्जन मजुमदार

कुछ कहने योग्य

"ननु वक्तृविशेषनिस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ॥" भारवि

बुद्धिमान व्यक्ति गुण के ग्रहण करने में वक्ता के विषय में निःस्पृह रहते हैं।

आदरणीय श्रीयादवजी त्रिकमजी आचार्य (महाराजश्री) के स्नेह, वात्सल्य और अनुकम्पा पाने का जिन लोगों को सौभाग्य मिला है, उनकी श्रेणी में अपना नाम लिखने का अवसर परमात्माने मुझे भी दिया है। यह उनकी ही दया थी कि गुरुकुल विश्वविद्यालय से निकलते ही मुझे महामहोपाध्याय कविराज श्रीगणनाथ सेनजी सरस्वती एम० ए०, एल० एम० एस०, के प्रत्यक्षशारीरम् का हिन्दी अनुवाद करने का अवसर मिला। इसके कारण मुझे उनके कल्पतरु प्रासाद में उनके चरणों में बैठकर आयुर्वेद का मर्म सीखने और देखने को मिलता रहा। इसी प्रकार यह उन्हीं महाराजश्री का स्नेह था; कि मुझे गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय हरिद्वार से एकदम समुद्र के किनारे जामनगर में माननीय डाक्टर प्राणजीवन माणिकचन्दजी मेहता एम० डी०; एम० एस० (बम्बई) का सहयोग मिल गया। इनके संसर्ग में रहकर बहुत कुछ सीखने और समझने को मिला। जिन बातों में मुझे सन्देह रहता था, और इस संशय के कारण दूसरों के सामने कहने में झिझक अनुभव करता था, वह सन्देह इनसे बहुत कुछ मिट गया। इसका एक उदाहरण मैं देता हूँ।

अपने जीवन के बीस-बाईस वर्ष आयुर्वेद के विषय में व्यतीत करने पर मेरी यह धारणा बनी थी; कि वर्त्तमान कालेजों में जो डाक्टर आयुर्वेद के विषय पढ़ाते हैं या जो उपाध्याय रसायन की शिक्षा देते हैं, वे व्यर्थ ही नहीं, अपितु इनसे आयुर्वेद के विद्यार्थी भूल भुलैया में पड़ जाते हैं; जिनसे वे आयुर्वेद के विषय में गुमराह हो जाते हैं। इसके उदाहरण कई बार मेरे जीवन में आये।*

---

* उदाहरण के रूप में—यकृत् रोग में (यकृत् उदर में) पाश्चात्य चिकित्सा

परन्तु संकोच के कारण किसी से कह नहीं सका। भले हो मैंने स्वयं विश्व-विद्यालय में बी० एस० सी०; और एम० बी० बी० एस० के पाठ्यक्रम की पुस्तकें पढ़ कर परीक्षा दी हो; परन्तु गुरुकुल के राष्ट्रीय संस्था होने से; राष्ट्रभाषा में पढ़ाई होने से मेरे साथ उपाधि के अक्षर नहीं जुड़े थे। इसलिये भले ही जर्मनी और आस्ट्रीया, फ्रांस में हमारा आदर हो; परन्तु यहां भारत में नहीं है। इसीसे पूना में चोपड़ा कमेटी की जो बैठक बुलाई गई थी, उसमें इस बात की चौकसी पूरे तौर से रक्खी गई थी।

वाले घी का उपयोग मना करते हैं, परन्तु आयुर्वेद वाले संस्कृत तिक्तघृतों का उपयोग सफलता से करते हैं।

आयुर्वेद की दृष्टि से घी के चाटने में और घी के पीने में; गन्ने के रस को पीने में और गन्ने को चूसने में अन्तर है। यथा—

(१) घृतं तु पित्तेऽभ्यधिके लिह्याद् वातेऽधिके पिबेत् ॥
लीढं निर्वापयेत् पित्तमल्पत्वाद् हन्ति नानलम् ।
आक्रामत्यनिलं पीतमूष्माणं निरुणद्धि च ॥ चरक० चि०

(२) अविदाहि कफकरो वातपित्तनिवारणः ।
वक्त्रप्रसादनो वृष्यो दन्तनिष्पीडितो रसः ।
गुरुर्विदाहि विष्टम्भि यांत्रिकस्तु परिकीर्त्तितः । सुश्रुत

टाइफाइड् में मोसम्बी का रस दीजिये और मोसम्बी चूसने को दीजिये; इसके लिये आयुर्वेद की दृष्टि से भेद है। पाश्चात्य दृष्टि से भेद नहीं। प्रत्यक्ष में रोगी को मोसम्बी के रस से आध्मान होता है, विशेष कर जब हम ग्लुकोज़ मिलाकर देते हैं। दांत से चूसने पर नहीं होता। इसीलिये कहा जाता है कि दूध को चबाकर पियो, न कि स्टमकट्यूब की भांति उड़ेलते जाओ।

इसके सिवा ऐसे भी डाक्टर देखने में आये-जो बीस साल से अधिक आयुर्वैदिक कालेजों में काम कर रहे हैं, परन्तु उन्होंने अभी तक आयुर्वेद को सीखा नहीं। अपितु वात, पित्त, कफ को समझने की अपेक्षा उसकी हँसी करते हैं। ठीक भी है आयुर्वेद का कोई गुरू बनाना उनकी प्रतिष्ठा में बाधक है।

परन्तु जब माननीय डाक्टर मेहताजी ने एक दिन सुनहरी प्रातःकाल में महाराज श्री जामसाहेब के राजमहल के सामने सात रास्ते पर मुझे सम्बोधन कर के कहा कि "जामनगर के आयुर्वेद कालेज में पढ़ाने के लिये एक भी एम बी० बी० एस०; को नहीं रखूँगा; यहाँ पर पढ़ाने वाले सब एम० डी० और एम० एस० होंगे", तब मुझे अपने उपर्युक्त विचारों की सत्यता मिली। इसके बाद जब मुझे जामनगर में श्री डाक्टर कान्तिलाल शाह एम० एस०; सर्जन ईरविन हस्पताल-जामनगर आदि दूसरे योग्य डाक्टरों के सम्पर्क में काम करने का अवसर मिला, तब यह धारणा और भी पक्की बन गई; कि

जैसा कि चरक में कहा है-"न चैषमाचार्यः वैद्यादिको वा कश्चित्प्रज्ञायते।-" आयुर्वेद किस आचार्य से, कितने समय सीखा, कितने रस, तैल, घृतपाक किये, इसका कुछ पता नहीं। जब कि पाश्चात्य चिकित्सा की उपाधि के लिये नियमित पाठ्यक्रम में से पाँच साल गुजरना होता है। इसका परिणाम यह है कि ये लोग लोहभस्म को दस रत्ती की मात्रा में पानी से निगलवाते हैं। मेरे मित्र श्री अमृतलाल देवचन्द्र गणात्रा (मोरवी) ने एक चीफ़ मैडिकल ऑफीसर का नुस्ख़ा दिखाया था, जिसमें स्वर्ण वसन्तमालती दस ग्रेन, लोहभस्म पन्द्रहग्रेन, प्रवालभस्म-मोती की भस्म सब मिलाई थी। उनको पता नहीं कि स्वर्ण वसन्त मालती में मोती आते हैं। इन्हीं की देखा-देखी वैद्य भाई भी चन्द्रप्रभा को पानी से निगलवाने लगे। क्योंकि—

यद् यदा चरति श्रेष्टः तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ गीता

सरकारने डाक्टर लोगों को वैद्यों से श्रेष्ठ मानकर वैद्यों का भाग्य उनके हाथ में दे दिया है—इससे वैद्य उनका अनुकरण करते हैं।

आयुर्वेद भी पित्त की विशेष अवस्था में घी का निषेध करता है, भले ही पित्त को घृत ही शान्त करता हो।

न सर्पिः केवलं पित्ते पेयं सामे विशेषतः।
सर्वं ह्यनुरजेद्देहं हत्वा संज्ञां च मारयेत् ॥ चरक

आयुर्वेद कालेजों में अपक्क ज्ञान एवं अपक्क बुद्धि के उपाध्यायों की अपेक्षा पक्की बुद्धि एवं अधिक शिक्षित डाक्टर रखने चाहिये। वर्तमान आयुर्वेदिक कालेजों में अध्यापन कार्य के लिये भारत के एम० बी० बी० एस० डाक्टर उपयुक्त नहीं। मेरी यह धारणा एक लम्बे समय के पीछे, अच्छे से अच्छे, और सब साधन सामग्री से भरपूर आयुर्वेद कालेजों में काम करने से बनी है। सम्भव है कि इसमें मेरी भूल हो; और आगे सम्मति-विचार बदलने पड़े; परन्तु आज डाक्टर मेहता का सुर मेरी धारणा को मजबूत कर रहा है, इसी बात का संतोष है।

यहां पर इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि कर्नल मैकाले ने इस देश की शिक्षा प्रणाली का जो ढांचा बनाया था, उसका उद्देश्य केवल नौकर तैय्यार करना था, न कि दिमाग। यही कारण है कि भारतवर्ष में कई हजार एम० बी० बी० एस० हैं; और हर साल सैकड़ों पैदा होते हैं; परन्तु आज तक एक ने भी मेडिकल साईन्स में एक भी गवेषणा नहीं की। इस देश की दृष्टि से तो चिकित्सा को करना असम्भव ही है। टाईफाईड के रोगी को फल और दूध देना वह जानता है; परन्तु गांव में जहां फल-दूध न मिले, तब क्या देना, वह उसे पता नहीं।

इसके सिवा भारतवर्ष एक उष्ण (Tropical) प्रदेश है। उष्ण देश के रोगों का विस्तृत ज्ञान लेने के लिये कलकत्ते में एम० बी० बी० एस० के पीछे का पाठ्यक्रम है। इससे स्पष्ट है कि एम० बी० बी० एस० के पाठ्यक्रम में उनको इस विषय की शिक्षा बहुत ही थोड़ी; नहीं के बराबर मिली होती है। बात भी ठीक है उनकी पुस्तकें इंग्लैन्ड के लोग तैय्यार करते हैं; वे पढ़कर ये उपाधि लिये होते हैं। इससे इस देश का ज्ञान उनको होता ही नहीं। जब कि आयुर्वेद इस देश की विद्या है। इसलिये वे आयुर्वेद और पाश्चात्यचिकित्सा का समन्वय न पाकर स्वयं भ्रमित होते हैं। समझ न आने पर विद्यार्थी को गुमराह करते हैं, या आयुर्वेद की मजाक विद्यार्थियों के सामने करते हैं। इसमें कुछ योग्य अध्यापक अपवाद भी हैं, परन्तु "छत्रिणो गच्छन्ति" न्याय से मैंने अनुभव के आधार पर यह लिखा है। इसलिये आयुर्वेद कालेजों में पाश्चात्य चिकित्सा के लिये ऊँचे शिक्षक रक्खे जांय, या इनको कह दिया जाय कि आयुर्वेद के विषय पर अपना विचार-मन्तव्य विद्यार्थी को न दे।

इसी तरह की एक घटना इस श्रम का कारण बन गई। इस घटना का जिक्र करना अप्रासंगिक नहीं होगा। बात यह थी कि बम्बई की आयुर्वेदिक फैकल्टी का कोर्स जामनगर आयुर्वेदिक कालेज में चल रहा था। वहां पर रसशास्त्र के लिये पुस्तक का चुनाव था। श्रीमहाराज यादवजी इस कालेज के प्रिन्सिपल थे। उनका कहना था कि पाठ्य-पुस्तक रसतरङ्गिणी रखनी चाहिये, या रसरत्नसमुच्चय का हिन्दी अनुवाद। इसमें भी उनका विशेष आग्रह रसतरङ्गिणी के लिये था। वह भी इसलिये कि इसमें रजतनन्त्रित आदि आधुनिक योग श्लोकबद्ध थे। कुछ वैद्य लोग इनका व्यवहार करते हैं। और जब व्यवहार करते हैं, तो उनको बनाना-सीखाना चाहिये; यह उनका कहना था। बात देखने सुनने में सही थी। परन्तु क्रियात्मक रूप में मैंने किसी भी कालेज में जहां रसतरङ्गिणी पढ़ाई जाती है, वहां न तो विद्यार्थी को रजत नन्त्रित् बनाते देखा, और न बनाकर दिखाते हुए अध्यापक को देखा। जामनगर में स्वयं जब अध्यापक से मैंने पूछा कि आपने इसे हाथ से बनाया है, तो उसने पूरी ईमानदारी से कहा कि मैंने क्या, मेरे अध्यापक तक ने भी इसे नहीं किया। यह एक संस्था का नहीं, पांच सात कालेजों का तो मुझे अनुभव था। मैंने उससे कहा कि आप रसेन्द्रसारसंग्रह रख दीजिये। उसके तीस चालीस पृष्ठ जारण मारण सीखाने के लिये पर्य्याप्त हैं। इसके सिवा रोगों में बरतने वाले प्रचलित रसों के नाम से विद्यार्थी परिचित हो जायगा। उसके घटक, बनाने की विधि आदि सब सीख लेगा। जो कि आगे कहीं नहीं है। रजतनन्त्रित आदि के बनाने की विधि रसायन के कोर्स में रख दीजिये—वहां वह सीख ले। रहा जरूरत का सवाल-गुजरात में इतना पानी का अकाल इस समय है; कोई भी हाईड्रोजन और आक्सीजन मिलाकर पानी नहीं बनाता। सब कुआं खोदते हैं। सो जब जरूरत होगी बाजार से खरीद लेंगे, भले ही किसी दाम पर मिले। क्या वैद्यों ने क्युनीन के ऊँचे दाम नहीं दिये ? फिर इसमें आग्रह क्यों ?

परन्तु मेरी बात को कोई दाद नहीं मिली। हुआ वही जो इस समय होना था, कि प्रिन्सिपल के नाते रसतरङ्गिणी कोर्स में हो गई, और मैंने भी भारवि का वचन "वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः" बोलकर ठण्डा पानी पी लिया।

परन्तु मेरे सामने एक भी विद्यार्थी ने रजतनम्रित नहीं बनाया, और न उसे बनाकर दिखाया गया; जब कि वहां पर इसके सब साधन उपस्थित थे। यही बात दूसरे विद्यालयों में भी है; फिर हम क्यों व्यर्थ में दिखावा करते हैं; पुरानी पुस्तकें छोड़कर नई चुनते हैं। क्यों विद्यार्थी के ऊपर झूठा-व्यर्थ का बोझ लाद रहे हैं ?

इसी घटना से इस श्रमका श्रीगणेश हुआ। इस पुस्तिका को लिखने में मैंने दो बातों का ध्यान रक्खा है। जो बातें दूसरी पुस्तकों में स्पष्ट एवं सुलभ रूप में हैं, उनको लिखकर पृष्ट संख्या नहीं बढ़ाई। जैसे कि—यन्त्र और परिभाषा प्रकरण; ये विषय श्री महाराजजी की बनाई पुस्तक 'द्रव्यगुण विमर्श' के दूसरे भाग में स्पष्ट हैं। दूसरी बात पृष्ठ बढ़ाने के लिये अंग्रेजी की पुस्तकों के उद्धरण—अभ्रक की उत्पत्ति, रचना; आदि वस्तुओं के लिये नहीं दिये। इससे चिकित्सा में कोई लाभ नहीं। ये बातें विद्यार्थी के लिये बोझ रूप हैं। अनुवादक अपना पारिश्रमिक बढ़ाने के लिये या विद्यार्थियों पर रोब दिखाने के लिये, इस विषय से अनभिज्ञ प्रकाशक को समझाने के लिये कई बार ऐसा करते हैं। रसशास्त्र के कई अनुवादक ऐसे हैं, जिन्होंने कैमिस्ट्री-रसायन जरा भी पढ़ी नहीं, वे भी दूसरी पुस्तकों से विश्लेषण आदि बाते उतार कर दे रहे हैं। परन्तु चिकित्सा में इनका महत्त्व नहीं, यह बात सफल वैद्यों को देखकर हम देख सकते हैं*। इसलिये इस पुस्तक की काया सूक्ष्म ही है। कस्तूरी की सूक्ष्म मात्रा ही मरते हुए रोगी

---

* इसका उदाहरण लीजिये— काठियावाड़ में पारद का उपयोग गेहूं आदि अनाजको लम्बे समय तक सुरक्षित करने में होता है। यह रीति बहुत ही सस्ती सरल है। परन्तु किसी अंग्रेज ने या अंग्रेजी पुस्तक में नहीं दी है। इसी से किसी भी लेखक ने; यहां तक कि गुजरात के योग्य लेखक ने भी इसे छूआ तक नहीं। जब कि उनके देश में; देहातों में; शहरों में पारे से अन्न को सुरक्षित करते हैं। इसी प्रकार सुरमे का उपयोग—सुश्रुत में सुरमें को उत्तम रक्तस्तम्भक कहा है। चरक में भी रक्तपित्त में सुरमे का उपयोग है। गांव में आज भी पशुओं के घावों को साफ़ करने, रक्त निकलने पर सुरमा बांधते हैं। विशेषकर वर्षा ऋतु में इसको बरतते हैं, चूँकि इस पर एक तो मक्खी नहीं बैठती, दूसरा पानी का असर नहीं होता। पशुओं में तो मैंने देखा है, मनुष्यों में मैंने नहीं देखा।

को जीवित कर देती है। इसी प्रकार यह छोटा सा श्रम भी रसशास्त्र के लिये प्राणाभिसर वैद्य बने यह भगवान से प्रार्थना है।

जब यह पुस्तक लिखी गई तब मैंने कविराज श्रीहरिरंजन मजूमदारजी एम०ए० सभापति आयुर्वेद महासम्मेलन (१९४१) भूतपूर्व प्रिन्सिपल आयुर्वेदिक कालेज देहली को इसके कुछ भाग सुनाये। उन्होंने इसको पसन्द किया और साथ ही यह सलाह दी कि इसके सन्दिग्ध स्थल श्री महाराज जी को भी दिखा दें, चूँकि सोमल आदि वस्तुएँ मैं व्यवहार में नहीं लाता। संयोग वश मैं बम्बई गया और इसी प्रसंग से महाराज श्रीजी से भी मिला। प्रसंग में खर्पर का विचार आया। मेरा कहना था कि खर्पर तुत्थ का समास या तुत्थ (ताम्र) से सम्बन्धित वस्तु है; न कि जस्त से। क्योंकि स्वर्णमालतीवसन्त में खर्पर मुख्य वस्तु है। यह क्षय का प्रधान योग है। क्षय के दूसरे योगों में जस्त भस्म का उतना उपयोग नहीं, जितना ताम्र का। क्षय के लिये ताम्र अधिक उपयोगी है, अपेक्षा जस्त के। उनको यह युक्ति चारु नहीं लगी। उनके सामने डाक्टर देसाई की पुस्तक थी। जिसमें इसका (खर्पर का) सत्त्व वंग की भांति लिखा था। वंग श्वेत है; जस्त भी श्वेत है। परन्तु मुझे यह कहना था कि गाय का दूध श्वेत है; परन्तु इसका घी पीला होता है। विष को नष्ट करने की शक्ति जितनी ताम्र में है, उतनी जस्त में नहीं है। *इसलिए ताम्र का योग मानने में आपत्ति नहीं। इस सारे प्रसङ्ग का अन्त 'करके दिखाओ' इन शब्दों से हुआ।

बात भी ठीक थी, उनके इन शब्दों ने बृटिश सरकार के वे शब्द जागृत कर दिये जब कि सरकार कांग्रेस को चुनौती देती थी कि तुम कहते हो, करके दिखाओ। भगवान ने पूज्य नेताओं को समय दिया, अंग्रेज चले गये; सत्ता साधन आये, वे करके दिखाने लगे। सारे देशको एक सूत्र में बांधना आरम्भ हो गया। सो यह बात, साधन, समय पर निर्भर थी जिससे कि मैं विवश हूं।

---

* ताम्र का उपयोग पाश्चात्य चिकित्सा में चल पड़ा है। बच्चों के लिये शक्ति वर्द्धक ओषधियों में ताम्र का उपयोग है (यथा मैनेडैक्स में); जस्त का उपयोग अभी तक नहीं हुआ।

परन्तु इतना विश्वास है कि आज नहीं, तो कुछ समय पीछे कोई विद्वान् जरूर मेरे विचार में सुर मिलायेगा* । क्योंकि—

उत्पत्स्यते मम कोऽपि समानधर्मा ।
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

पुस्तक के सम्बन्ध में—इसमें जहां ओज का विचार किया गया है: वहां पर इतना स्पष्ट है कि ओज के ईषत् रक्त, श्वेत, पीला इन तीन रंगों का वर्णन चरक में ही है । सुश्रुत में केवल श्वेत वर्ण बताया है । चरक सुश्रुत से बहुत पहले का है । सुश्रुत में हम **उत्तर कुरू** शब्द पढ़ते हैं, जहां जाना अति कठिन है । उत्तर कुरु शब्द को हम फिर किरातार्जुनीय में भी पढ़ते हैं । यथा—विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरुन कुप्यं वसु वासवोपमः ॥" ऐतिहासिक इसको थ्यान शान (देवताओं का पहाड़) मध्य एशिया में बताते हैं । चरक में इस देश का नाम भी नहीं । इसलिये चरक में दिये रंग का विचार वैदिक काल के रूप में प्रचलित संस्कृति-"**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासदि** इत्यादि मन्त्र से किया है उसे उस समय की संस्कृति, रीति रिवाज़ के अनुसार देखिये ।

भस्मों के सम्बन्ध में—स्वर्ण और रजत, ये दो द्रव्य भस्म (अपुनर्भव) रूप में नहीं आते, ऐसा सोनी लोगों का मत है । सोनी लोग कहते हैं कि स्वर्ण की कैसी भस्म क्यों न हो, हम उसको स्वर्ण में बदल सकते हैं । कुछ वैद्य भी ऐसा कहते हैं । स्वर्ण तैजस है, ऐसा दर्शन शास्त्री मानते हैं । अग्नि भी तेज स्वरूप है ; तेज, तेज का नाश नहीं करता । इसलिये अपुनर्भव की परीक्षा स्वर्ण, चाँदी को छोड़कर दूसरों के लिये है । भस्म का अभिप्राय इनकी राख-मृत करने से है ; जिसमे ये शरीर में विकार न कर सकें; इनका सूक्ष्म रूप हो जाये । मृत मनुष्य को भी हम कहते हैं कि इसकी मिट्टी ठीक तरह से संवार देना । मेरा इसमें वैयक्तिक अनुभव नहीं । अनुभवी वैद्य प्रकाश डालें ।

---

* आयुर्वेद में अमलतास के गूदे का उपयोग है, परन्तु फली के छिलके का उपयोग नहीं । यूनानी लोग फली के छिलके का उपयोग अलग करते हैं । इसी प्रकार इलायची की बात है ।

पाठकों के प्रति—किसी भी वस्तु के लिये दो विभिन्न सम्मति सदा से होती रही हैं। चाहे वह वस्तु कितनी ही सुन्दर और कितनी ही बुरी क्यों न हो। चन्द्रमा जैसी निर्मल वस्तु भी एक को सुखी करती है, और दूसरे को जलाती है। यह बात आज की भी नहीं; बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। इसी से महाकवि बाणभट्ट को कहना पड़ा कि—

अकारणाविष्कृतवैरदारुणादसज्जनात्कस्य भयं न जायते।
विषं महाहेरिव यस्य दुर्वचः सुदुःसहं संनिहितं सदा मुखे॥
कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव॥
सुभाषितं हारि विशत्यधोगलान्न दुर्जनस्यार्करिपोरिवामृतम्।
तदेव धत्ते हृदयेन सज्जनो हरिर्महारत्नमिवातिनिर्मलम्॥

इसलिये इस श्रमको जहां कुछ मनुष्य सराहेंगे, वहां पर ऐसे भी महानुभाव होंगे जो कि इसे फूटी आँख भी देखना पसन्द नहीं करेंगे। परन्तु इतना होते हुए भी व्यक्ति अपना कर्त्तव्य पालन करते ही जाते हैं*। इसका यह बचाव नहीं कि इसमें अशुद्धि नहीं है; अपितु इतना ही कहना है कि जो ठीक लगे, वह ले लेना शेष को छोड़ देना, या बदल लेना। जैसा कि भगवान आत्रेय ने कहा है—

---

* अपना अनुभव-विचार प्रत्येक व्यक्ति प्रकट करता है—उदाहरण के लिये—महाराज श्री ने अपने सिद्धौषधि संग्रह में चन्द्रामृत रस में बकरी के दूध की भावना के स्थान पर वासारस की भावना देना लिखा है। परन्तु बकरी के दूध की पाचन संस्थान पर विशेष क्रिया है। इसलिये आयुर्वेदप्रकाश में विषभक्षण में सबसे प्रथम बकरी का दूध देना लिखा है। वह पच जाय तब दूसरा भोजन देना कहा है। यक्ष्मा में पाचन संस्थान विकृत होता है, इस लिये बकरी का दूध महत्व रखता है। वासास्वरस में यह गुण नहीं। परन्तु बम्बई में बकरी का दूध शायद सुलभ नहीं होता, इससे यह परिवर्त्तन उनको करना पड़ा है। जैसे काबुल में विरेचन तैल के लिये एरण्ड तैल के स्थान पर बादाम रोगन बरतने की प्रथा है।

"भिषग् बुद्धिमान् परिसंख्यातमपि यद्यद्द्रव्यमयौगिकं मन्येत तत्तदपकर्षयेत्। यद्यदनुक्तमपि यौगिकं वा मन्येत तत्तद्विदध्यात्। युक्तिं प्रमाणीकृत्य।"

युक्ति के आधार पर आप भी इसको बदल लीजिये। यह श्रम स्वान्तः सुखाय ही है; जिस प्रकार कि मनुष्य स्वयं गाता है, उसमें आनन्द लेता है; दूसरे को उसमें आनन्द आवे तो वह उसे मना नहीं करता।

महाराज श्री के कारण ही यह विचार मुझे लिखने को मिले। उनमें ही सच्चा ब्राह्मणत्व मुझे समय-समय पर मिला। महाभारत में ब्राह्मण के लिये कहा है कि उसकी जीभ तलवार के समान तीक्ष्ण होती है; परन्तु हृदय मक्खन जैसा कोमल। क्षत्रिय का इससे विपरीत होता है। मुझे कई प्रसंगों में महाराज श्री का इस विषय में अनुभव है, उन्होंने कभी भी सच्ची बात कहने में मुझे नहीं रोका, न बुरा माना। भले ही कुछ समय के लिये मुझे उनकी वाणी असह्य रही; परन्तु अन्त में यह स्मरण करके कि—

नारिकेलफलाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः।
अन्ये बदरीकाकारा बहिरेव मनोहराः॥

मैंने उनमें सदा स्नेहरस पाया। उसी के कारण मैंने इतना लिखने का साहस किया। इसमें यदि कोई वाक्य, या शब्द अनुपयुक्त भी आ गया हो तो उसे कर्त्तव्य की दृष्टि से ही समझ कर मैं हृदय से उनसे क्षमा चाहूँगा।

अन्त में मैं इसके प्रकाशक गोलोकवासी बाबू हरिदास जी गुप्त के पुत्र श्री जयकृष्ण दास जी गुप्त, अध्यक्ष चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, बनारस, का आभार मानता हूँ कि जिन्होंने बिना आर्थिक प्रश्न पर विचार किये ही आयुर्वेद के नाते, इस संकट समय में इसका प्रकाशन हाथ में लिया है। अन्त में यही आशा है कि

सत्करिष्यन्ति विद्वांसो यद्यप्यस्याः विदुष्टता।
आद्रियते विना शम्भोः को लोके गरलं खलम्॥

विषयसूची

भारतीय रसपद्धति

पहला प्रकरण

"युक्तं न निवारयेत्" चरक

सच्ची बात का निवारण न करें

"धावक के शब्दार्थ को देख कर कुछ यूरोपियन पण्डितों ने अनुमान भिड़ाया है कि; यह कवि जाति का धोबी था; कथा से यह बात साबित नहीं होती।"

बाणभट्ट की आत्मकथा से

इसी तरह भारतीय रसशास्त्र का सम्बन्ध आधुनिक कैमिस्ट्री के साथ जोड़ने में भारतीय पण्डितों ने अपनी बुद्धिमानी का परिचय दिया है। वास्तव में भारतीय रसशास्त्र का वर्त्तमान कैमिस्ट्री के साथ न तो अर्थ में कोई सम्बन्ध है, और न प्रयोजन में ही कोई जोड़ है। जिन कविराजों ने कैमिस्ट्री का अ, आ, भी नहीं सीखा, वे सफल रस-चिकित्सक बने हैं; यह सर्व सम्मत एवं विवाद रहित वस्तु है। इसलिये भारतीय रसशास्त्र को इसी देश की दृष्टि से देखना चाहिये।

भारतीय रसशास्त्र का उद्देश्य-आधुनिक कैमिस्ट्री से सम्पूर्ण रूप में भिन्न है। प्राचीन आचार्यों ने इस रसविद्या का जन्म देहसिद्धि और लोहसिद्धि, इन दो उद्देश्यों से किया था। इसमें भी देहसिद्धि ही मुख्य थी—जैसा कि आचार्य ने कहा है—

आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणाम्।
श्रेयः परं किमन्यत् शरीरमजरामरं विहायैकम्॥ १॥
अस्मिन्नेव शरीरे येषां परमात्मनो न संवेदः।
देहत्यागादूर्ध्वं तेषां तद्ब्रह्मदूरतरम्॥ २॥
तस्माज्जीवन्मुक्तिसमीहमानेन योगिना प्रथमम्।
दिव्या तनुर्विधेया हरगौरीसृष्टिसंयोगात्॥ ३॥

विद्याओं का आश्रयस्थान, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल इस अजर अमर शरीर को छोड़ कर दूसरा कोई नहीं है। इसी शरीर में जिन लोगों ने परमात्मा को प्राप्त नहीं किया; शरीर को छोड़ने के उपरान्त तो ब्रह्म (परमात्मा) उनसे हजारों कोस है। इसलिये जिस मनुष्य को जीते हुए ही मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा हो; वह इस संसार में शरीर को **दिव्य शरीर** बनाये।

यह दिव्य शरीर हर (महादेव) (पारा) और गौरी (पार्वती) (गन्धक) इनके मेल से होता है। यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि आयुर्वेद में गन्धक के बिना पारद का उपयोग मना है। यथा—

गन्धकजारणरहितः संशुद्धोऽपि रसो योगेषु न योज्यः—गदहन्तृत्वशक्त्यनुदयात् ॥ *आयुर्वेदप्रकाश।

देह-सिद्धि हर-गौरी के संयोग से हो; इसके लिये हर एवं गौरी (पारा और गन्धक) की कार्यक्षमता की परीक्षा लोहसिद्धि से होती थी।

लोहसिद्धि क्या है? लोह के लिये आचार्य ने कहा है—

"**धातुर्लोहे लुह इति मतः सोऽपि कर्षार्थवाची।**" रसरत्नसमुच्चय।

लोह शब्द धातु वाचक अर्थ में होने के साथ लोहे (आयर्न) में भी है। कर्षण होने से या करने से इनको लोह कहते हैं। रोगों को खींचते हैं; या इनको खींच कर तार आदि बनाते हैं। इनमें शुद्ध धातु चार ही है यथा—"**शुद्धं लोहं कनकरजतभानुलोहाश्मसारम्।**" अर्थात् सोना, चांदी, ताम्बा और लोहा ये चार धातु शुद्ध हैं। इनका ही कर्षण होता है-तार अच्छे बनते हैं। नाग (सीसा) और वंग ये दो लोह पूति लोह हैं। टूटने वाले हैं; इनका कर्षण नहीं होता। कांसी, पीतल और भर्त्त-ये तीन धातु मिश्रित हैं। इसलिये गिरने पर टूट जाते हैं-तार बनाना तो दूर रहा। इसलिये मुख्यतः लोह शब्द स्वर्ण, चाँदी, ताम्बा और लोह में व्यवहृत है। इनमें स्वर्ण और चाँदी मुख्य हैं। इसलिये रसविद्या से स्वर्ण और चाँदी को बनाया जाता था। जिस सिद्धि से यह परिवर्त्तन होता था,

---

* भारतीय रसशास्त्र में गन्धक बिना के पारद वाले योग बहुत कम हैं। इसलिये रसशास्त्र के योगों से पारद विष के लक्षण नहीं होते।

उसको लोह सिद्धि कहते थे। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने चाँदी और स्वर्ण को वेधज या कृत्रिम माना है। यथा—

"प्राकृतं सहजं वह्निसंभवं खनिसंभवम्।
रसेन्द्रवेधसंजातं स्वर्णं पंचविधं स्मृतम् ॥ १ ॥
सहजं खनिजातं च कृत्रिमं त्रिविधं मतम्।
रजतम्" .... ॥ २ ॥

चाँदी और सोना—ये दोनों वेधज या कृत्रिम मानने का कारण यही है कि ये पारे से बनाये जाते थे। जिस विद्या से ये परिवर्त्तन किये जाते थे उसको राजवती विद्या और हेमवती विद्या कहते थे। इस विद्या की सफलता इस बात की साक्षी होती थी कि देह सिद्धि करने के लिये पारद में योग्य संस्कार हो गये हैं। जब तक पारद में वेधन गुण न आ जाय—अर्थात् एक धातु के अणुओं को दूसरी धातु के अणुओं में नहीं बदल सकता, तब तक वह शरीर को अपरिमित आयु नहीं दे सकता * इसी लिये कहा है कि "फलमस्य कल्पप्रमितमायुः" कल्प के बराबर आयु प्राप्त करना। इस वेधन गुण के लिये पारद के अनेक संस्कार होते थे। यह संस्कार उसी प्रकार लगभग है, जिस प्रकार कि अन्न को शुक्र-रक्त में बदलने में कई परिवर्तनों में से गुजरना होता है।

इस बात को हम इस प्रकार समझ लेते हैं कि एक रोगी को भूख नहीं लगती, उसे भूख लगने की दवा देते हैं। दूसरे को पचता नहीं, उसे पचने की दवा देते हैं। एक को भोजन टिकता नहीं, तुरन्त मलत्याग करना पड़ता है; या वमन हो जाती है; उसे पेट में रहने के लिये दवा देते हैं। एक को भूख भी लगती है; पचता भी है; पेट में भोजन भी रहता है; परन्तु मल नहीं आता। उसमें मल आने की दवा देते हैं। इसी प्रकार पारे में हम पहले भूख पैदा करते हैं। भूख होने पर खाया हुआ अन्न जब पच जाता है; तब जितना अन्न हमने

---

* रसायन अपरिमित आयु के लिये शरीर के परमाणुओं का बदलना—"पांशुशय्यायां शयीत, तस्य मासादूर्ध्वं सर्वांगेभ्यो कृमियो निष्क्रामन्ति। तानणुतैलेनाभ्यक्तस्य वंशविदलेनापहरेत्। द्वितीये पिपीलिकास्तृतीये यूका। तथैवापहरेत्। चतुर्थे दन्तनखरोमाण्यवशीर्यन्ते। पञ्चमे प्रशस्तगुणलक्षणानि जायन्ते। अमानुषं चादित्यप्रकाशं वपुरधिगच्छति।"

खाया होता है; उतना भार हमारे शरीर का नहीं बढ़ता, अपितु प्रायः वही भार रहता है; जो कि खाने से पहले था। परन्तु यदि भूख बिना लगे खायें; या भोजन पचे नहीं, तो भार बढ़ जाता है। इसी प्रकार जब पारद में भूख हम पैदा कर लें, तब उसको खाने के लिये सोना रूपी भोजन दें; और वह सोना उसमें जारण हो जाये तो पारे का भार भी नहीं बढ़ेगा। जिस प्रकार पाचन करने के लिये हम हींग, यवक्षार, आदि आग्नेय औषध मनुष्य को देते हैं; उसी प्रकार पारे में स्वर्ण का जारण करने के लिये विड् तथा दूसरे प्रकार की अन्य आग्नेय औषधियाँ दी जाती हैं। जारण होने पर अर्थात् स्वर्ण के जीर्ण होने पर—पच जाने पर पारा पहली अवस्था में हो जाता है। इसी से कहा है—

•"जारणा हि नाम—गालन-पातन व्यतिरकेण घने हेमादि ग्रासपूर्व-कपूर्वावस्था प्रतिपन्नत्वम्" अर्थात् अमुक या स्वर्ण का ग्रास देकर उसको जीर्ण कराके पचाकर भी पारे की अवस्था पहले की भांति रहे (उसका भार न बढ़े) इसका नाम जारणा है। जारणा को ही मूर्च्छना (मिलाना) कहते हैं।

इस जारणा का फल—

अजारयन्तः पविहेमगन्धं वाञ्छन्ति सूतात् फलमप्युदारम्।
क्षेत्रादनुप्तादपि सस्यजातं कृषीवलास्ते भिषजश्च मन्दाः॥

जो कृषक खेत को तो बोये नहीं, परन्तु फल की चाह करे, वह जैसे मूर्ख होता है, उसी प्रकार जो लोग स्वर्ण और अभ्रक का जारण न करके पारद से उच्चकोटि के फल की आशा रखते हैं, वे भी मूर्ख हैं। इस स्वर्ण जारण में पर्य्याप्त संस्कार करने पड़ते हैं। जो कि साधारणतः कठिन ही नहीं, असम्भव है। इसलिये शास्त्र में तीन संस्कार से काम चलाना बता दिया है। यथा—

एतावदप्यशक्तः कर्त्तुं सूतस्य शोधनं मनुजः।
स्वेदनमर्दनमूर्ध्वं पातनमेतत् त्रय कुर्यात्॥

इन सब परिवर्त्तनों में पारद के अन्दर कई परिवर्त्तन आ जाते हैं। इसमें पारद जो अग्निपर उड़ता था वह इन परिवर्त्तनों के कारण अग्निपर से नहीं उड़ता, अपितु अग्निस्थायी-आगपर रहने वाला हो जाता है। ये परिवर्त्तन जैसे पारे में होते हैं, उसी प्रकार रस शास्त्र से स्वर्ण आदि में भी हो जाते हैं। भारतीय रस

शास्त्र से स्वर्ण में संस्कार करके उसे द्रवरूप बनाते हैं। इस द्रवरूप में ही वह सदा रहता है; इसको ये लोग द्रुति शब्द से कहते हैं। जिस प्रकार पारद के संस्कार इस समय केवल पुस्तक का विषय है, वैसे ही यह द्रुति भी पुस्तक का विषय है।

रसशास्त्र का नामकरण

रसशास्त्र का उद्देश्य इस शरीर को अजर अमर करना है। यह अजरता एवं अमरता पारे से ही प्राप्त होती है, ऐसा इस शास्त्र के आचार्यों का मत था। यथा—

रसनात्सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते।
जरारुङ्मृत्युनाशाय रस्यते वा रसो मतः॥

जरा-व्याधि और मृत्यु के नाश के लिये पारद को खाया जाता है, इस लिये इसको 'रस' कहते हैं। अथवा स्वर्ण आदि सब धातुओं को यह खा लेता है, इस लिये इस को रस कहते हैं। यथा—

काष्ठौषध्यो नागे, नागो वंगेऽथ वंगमपि शुल्वे।
शुल्वं तारे तारं कनके कनकं च लीयते सूते॥

काष्ठौषधियां सीसे में, सीसा वंग में, वंग ताम्र में, ताम्र चांदी में, चांदी सोने में और सोना पारे में लीन हो जाता है। सुनार लोगों की मान्यता है कि सोने की अंगूठी को या किसी आभूषण को पारे में रख दिया जाय, फिर उसको ऊपर से गेरें, या दबायें तो वह टूट जाता है। यह मान्यता गुजरात, संयुक्त प्रान्त के सब सुनारों की है। जो ठीक भी है। पारद-धातु के एक एक अंश-परमाणु में पहुंच चुका होता है; इससे वह कमजोर होजाता है। इसी कारण से इसको रस कहते हैं।

'रस' शब्द प्रायः द्रव वस्तु के लिये आता है। जिस प्रकार तेज, अग्नि का धर्म है, उसी प्रकार रस जल का धर्म है; इसी से कहा है कि **"स खलु आप्यो रसः"** यह रस जिह्वा इन्द्रिय से ग्राह्य है; चूंकि रस जिह्वा इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है; इस लिये इसको **'रसना'**-जिह्वा कहते हैं। जिह्वा किसी वस्तु को तब ग्रहण करेगी जब उस में कुछ जलीय या रस भाग हो अर्थात् द्रवांश हो। इसी

से मुनि ने कहा—

"रसो निपाते द्रव्याणाम्"

द्रव्यों का जिह्वा के साथ सम्बन्ध होने से उस की प्रतीति होती है। कर्म से रस की प्रतीति स्वर्ण-ताम्र आदि धातुओं में है। मधुर या अम्ल रस आदि के कार्यों को देखकर उनके रस का अनुमान हम करते हैं। परन्तु मुख्यतः प्रतीति पहला ज्ञान रस का जिह्वा से होता है। ज्ञान के लिये द्रवत्व जरूरी है। पारा सब को द्रव करता है; इस लिये, तथा पारे की प्रधानता होने से ही इस शास्त्र को रसशास्त्र कहते हैं। इससे कहा है—

मूर्च्छित्वा हरति रुजं बन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति।
अमरीकरोति हि मृतः कोऽन्यः करुणाकरः सूतात्॥

रसशास्त्र में जो प्रधानता पारे की है; कैमिस्ट्री में वैसी प्रधानता पारे की नहीं और न रसशास्त्र और कैमिस्ट्री के उद्देश्य एक हैं; इसलिये रसशास्त्र को कैमिस्ट्री समझना वैसे ही भ्रम पूर्ण है; जैसे कि-धावक कवि को धोबी समझना। अन्तर इतना ही है कि धोबी समझने में यूरोप के पण्डितों की बुद्धि का परिचय मिलता है; और रसशास्त्र और कैमिस्ट्री का सम्बन्ध जोड़ने में भारतीय विद्वानों की बुद्धि का ज्ञान हो जाता है।

प्रकरण दूसरा

रसशास्त्र के लिये आवश्यक जानकारी

रसशास्त्र में ओज, संस्कार, भावना, पुट, जारणा, चारणा, द्रावण, ग्रास आदि कई शब्द आते हैं। इनमें से बहुत से शब्दों का स्पष्टीकरण वैद्य श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्यजी ने अपने परिभाषा खण्ड में कर दिया है। उन को वहीं देख लेना चाहिये। यहाँ पर मैं कुछ शब्द लेता हूं। जैसे—

ओज

उपनीत ब्रह्मचारी होम विधि के पीछे सदा प्रार्थना करता है कि—

'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। ओजोऽसि ओजो मयि धेहि॥
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि॥

इस प्रार्थना में भगवान से वह तेज, ओज, मन्यु (क्रोध), सहनशीलता; वीर्य (शक्ति) और बल मांगता है। ये सब वस्तुएं ऐसी हैं जो शरीर के अन्दर रक्त, मांस, अस्थि, की तरह दृश्य नहीं है। वीर्य शब्द यहाँ पर शुक्र के लिये नहीं है; परन्तु "वीर्यं तु शक्ति"—"येन कुर्वन्ति तद् वीर्यम्"—वीर्य का अर्थ शक्ति है; जिस शक्ति से मनुष्य काम करता है; वह शक्ति वीर्य है। इस प्रकार से शक्ति भी एक अदृश्य वस्तु है। ये वस्तुएं रक्तमांस की तरह अदृश्य होने पर भी आँखों से दृश्य हैं। यथा—

अब तो आप को बड़ा क्रोध आया हुआ है। ऐसा जब हम व्यवहार करते हैं; तब स्पष्ट है कि हम क्रोध को चेहरे पर देखते हैं। क्रोध से उसका चेहरा लाल हो गया है। इसी प्रकार हम कहते हैं कि वह तो बहुत सहनशील है। रामू ने उसके मुख पर इतनी गालियां दी, परन्तु उसने कुछ भी नहीं किया; सब पी गया उसके चेहरे पर जरा सा भी गुस्सा नहीं आया और कोई होता तो आग बबुला हो जाता। यहां पर हमने चेहरे पर सहनशीलता देखी। इसी प्रकार कहते हैं कि अमुक स्वामी जी के चेहरे पर तेज चमक रहा है; उसके चेहरे से तो नूर झलकता है। अथवा मरने वाले रोगी के मुख पर से तेज चला गया। ऐसा जब हम कहते हैं, तो हम तेज को पहचानते हैं, देखते हैं; जो कि रक्त, मांस की तरह भिन्न है। यही बात बल के साथ है। चिऊँटी बहुत छोटा प्राणी है; परन्तु वह अपने से अधिक बोझ वाली वस्तु को खींच ले जाती है। इस बल को हम देखते हैं; परन्तु रक्त, मांस की तरह की यह कोई वस्तु नहीं। इसी तरह ओज अदृश्य है-इसी से चरक में कहा है—

"ओजोऽशनानां रजनीचराणामाहारहेतोः न शरीरमिष्टम् ।"

चरक शा०अ० २।

इसी प्रकार सुश्रुत ने तो ओज को बल ही कहा है। यथा—

"रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं खलु तेजः स एवौजः।
स्वशास्त्रसिद्धान्तः, तदेव बलमित्युच्यते।"

रस से लेकर शुक्र तक की सब धातुओं का जो उत्कृष्ट तेज है; वही ओज है; इसी को बल कहते हैं। तेज को हमने बाहर देख लिया है। उस

तेज का उत्कृष्ट रूप बल या ओज है। इस ओज को हम एक और रूप में समझ सकते हैं।

सोने को पारे में रखिये या मकरध्वज से निकाले स्वर्ण का कस कसौटी पर लगाईये। फिर इसी स्वर्ण को सुहागे के साथ आग पर गरम करके फिर कस कसौटी पर लगाईये। दोनों में आप को स्पष्ट अन्तर दिख जायगा। मकरध्वज के सोने का कस फीका होगा, और आग पर गरम करने पर इसका कस पक्का गहरा होगा। यह गहरा रंग सुहागे और अग्नि के कारण से आया है। ये दोनों वस्तुएं ही गरम-अग्नि रूप हैं। और जहाँ पर अग्नि कम होती है, वहाँ रंग भी फीका पड़ जाता है। जैसे मकरध्वज में से निकले सोने में और बीमारी से देर तक पीड़ित मनुष्य का चेहरा। यह अग्नि ही तेज है; तेज का उत्कृष्ट रूप ही ओज है। जिस प्रकार मक्खन का उत्कृष्ट रूप घी है, इसी प्रकार जिस स्वर्ण में से ओज चला गया; उसकी भस्म तो जरूर बन जायेगी, बाजार में सस्ती भी मिलेगी, परन्तु उतनी शक्तिशाली नहीं होगी, जो कि ओज वाले स्वर्ण की बनी होगी। यही कारण है कि स्वर्ण को तीव्र आँच न देकर **"त्रिंशद्वनोपलैर्दद्यात् पुटान्येवं चतुर्दश"** यह पाठ शास्त्र ने दिया है; अर्थात् जङ्गली उपलें वह भी तीस; उनसे स्वर्ण को पुट देना। मकरध्वज में स्वर्ण को तीन दिन-तीन रात की, बेर, खैर की लकड़ी की आंच लगती है; वहां स्वर्ण में क्या बचेगा? स्वर्ण जरूर है; परन्तु वह आत्मारहित निर्जीव शरीर है। इसमें से ओज निकल चुकता है। यदि ऐसा न होता तो आचार्य स्वर्णभस्म के लिये तीस अरणे-गोहों का विधान न करते। मकरध्वज में से निकले हुए स्वर्ण की भस्म, उससे बना स्वर्ण वसन्तमालती यदि क्षय में लाभ नहीं करता, तो यह आयुर्वेद का दोष नहीं; क्योंकि **"नायं स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति॥"** स्वर्ण चांदी ये दो धातु कोमल हैं; इसी से इनके वर्क बनते हैं—इस बात को रसशास्त्र में सदा ध्यान देना चाहिये।

ओज का रङ्ग और स्थान

चरक में मुनि ने कहा है कि—

हृदि तिष्ठति यच्छुभ्रं रक्तमीषत्सपीतकम्।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्नाविनश्यति॥

हृदय में जो शुभ्र-श्वेत-लाल थोड़ा सा पीला है; उसे ओज कहते हैं, उसके नष्ट होने से मनुष्य नष्ट हो जाता है। यह ओज-हृदय में रहता है। दूसरी तरफ हृदय में साधक पित्त रहता है। पित्त वस्तु अग्नि है। अर्थात् आग्नेय गुण वाली है। अग्नि का वर्ण लाल मानते हैं। जब मनुष्य को गुस्सा आता है; चेहरा लाल तमतमाया होता है। वह तो गुस्से में आग हुआ बैठा था—ऐसा लोक व्यवहार भी है। अर्थात् हृदय में जो पित्त है, उसको अग्नि मानें तो उसका रंग लाल होगा। कफ को ओज कहा है; कफ का वर्ण श्वेत कल्पना किया है, पानी के कारण से। यथा—

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।
सचैवोजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते॥

प्राकृत बल, श्लेष्मा, ओज ये सब पर्य्याय हैं।

इसी के साथ प्राचीन संस्कृति में लाल वर्ण रुद्रता का दिग्दर्शक है। यह रुद्रता-भय करना क्षत्रियों का धर्म है। इसलिये लालवर्ण क्षत्रियों का द्योतक है। जिस प्रकार लालवर्ण क्षत्रियों का द्योतक है;उसी प्रकार श्वेत वर्ण जल का द्योतक है। जल शान्त है; अग्नि से विपरीत है; प्राचीन संस्कृति में यह ब्राह्मणत्व को बताता है। सरस्वती अदृश्य वस्तु है, परन्तु उसका वर्ण भी श्वेत *माना है। ब्राह्मण का प्रतीक होने से। इसी प्रकार अभ्रक, वज्र, विष में भी रंगों की कल्पना ब्राह्मण आदि के भेद से की है। यथा—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रभेदात्तस्याश्चतुर्विधम्।
क्रमेणैव सितं रक्तं पीतं कृष्णं च वर्णतः॥ आयुर्वेदप्रकाश।

अभ्रक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भेद से चार प्रकार का है; क्रमशः श्वेत, लाल, पीला और कृष्ण है। अर्थात् श्वेतवर्ण ब्राह्मण का; लालवर्ण क्षत्रिय का, पीलावर्ण वैश्य का; कालावर्ण शूद्र का है। इसलिये ओज में श्वेत गुण जल का अर्थात् कफ का है। इस प्रकार से ओज में रंगों की कल्पना उसके गुण धर्म के अनुसार है। वास्तव में ओज का कोई रंग नहीं। जैसा सुश्रुत ने कहा है—

---

* सरस्वती का वर्ण श्वेत माना है। यथा—'वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती।'

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम् ॥

यथा—पानी का रंग श्वेत, नीला दीखता है; परन्तु वास्तव में पानी में रंग नहीं होता है ।

ओज की उपमा मुनि ने मधु (शहद) से दी है । यथा—

भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा सञ्चीयते मधु ।
तद्वदेवोजः स्वकर्मभ्यो गुणैः संचीयते नृणाम् ।

जिस प्रकार भ्रमर नाना प्रकार के फल-पुष्पों से मधु का सञ्चय करते हैं; उसी प्रकार यह ओज भी शरीर में नाना अंगों से—शिर से, मध्य भाग से, ऊरु से, पैरों से एकत्रित होता है । वेद में शरीर के इन अंगों को कहा है । यथा—

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यः कृतः,
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रोऽजयात ।"

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कह कर बताया है ।

ओज सब अङ्गों का शिर से लेकर पैर तक या रस से लेकर शुक्र तक सब धातुओं का सार है; इसमें सबके प्रतिनिधि हैं, इसलिये द्विज शब्द से कहे जाने वाले तीनों वर्णों का रंग श्वेत, लाल, पीला इसमें कह दिया है । इस प्रकार से सुश्रुत का वचन **'रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं खलु तेजः तदेवोज इत्युच्यते'** यह वचन संगत रहता है । सुश्रुत ने ओज का रंग श्वेत ही कहा है । "यथा—**'ओजः सोमात्मकं-स्निग्ध शुक्ल शीतं स्थिरं सरम्'**

रहा स्थान—ओज के लिये सबसे उत्तम स्थान हृदय है। हृदय का अर्थ जहां धड़कने वाला दिल है, वहां किसी वस्तु के मध्य विन्दु या केन्द्र के लिये भी हृदय शब्द है । सम्भवतः हृदय शब्द मस्तिष्क में होने वाले वैन्ट्रीकल के लिये भी हो । आयुर्वेद में हृदय शब्द का अर्थ प्रसङ्ग अनुसार होता है। जिस प्रकार कि आर्त्तव शब्द के लिये प्रयुक्त रक्त, असृग शब्द प्रकरणानुसार लिया जाता है । कोई भी अर्थ हृदय का करें—यह निश्चित है कि वह कोई अति सुरक्षित स्थान है । उस सुरक्षित स्थान में ओज रहता है । इसीलिये ऋषि ने कहा है कि—

(१) तन्नाशान्नाविनश्यति,

(२) देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनः।
तदभावाच्च शीर्यन्त शरीराणि शरीरिणाम् ॥

ओज के नष्ट होने से मनुष्य नष्ट होता है।

ओज के नष्ट होने के सिवाय ओज का कम होना, खिसकना, या विकृत होना भी होता है। जैसा कि सुश्रुत में कहा है—

(१) अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकात् ध्यानात् श्रमात्क्षुधः।
ओजः सङ्क्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम्।
तेजः समीरितं तस्माद् विस्रंसयति देहिनः ॥
तस्य विस्रंसो, व्यापत् क्षय इति दोषः। सुश्रुत.

इसलिये ओज में नाश के सिवाय, विस्रंसन, व्यापत् और कमी होती है। कमी का उदाहरण-सुग्रीव का बाली के सामने जाने से आधा तेज-ओज क्षीण हो जाता था। बाली को वरदान था कि उसके सामने जो आयगा-उसका आधा तेज उसमें आजायगा। इसी से रामचन्द्र जी ने छिपकर मारा था। बड़े आदमी के सामने जाने पर छोटे मनुष्य का तेज फीका पड़ जाता है। यही ओज क्षय है; जो कि सामयिक है।

ओज में ये परिवर्त्तन दुःख या मानसिक चिन्ताओं से अधिक होते हैं; इस लिये मनुष्य को इनसे बचना चाहिये। ओज को बढ़ाने के लिये गायका दूध सब से उत्तम है; क्योंकि ये दोनों समान गुणी हैं।*

ओज का परिमाण

ओज के नष्ट होने से मनुष्य मर जाता है; यह एकबात है। ओज के क्षय होने से, बिगड़ने से या स्थान से खिसकने पर मनुष्य मरता नहीं, परन्तु स्वस्थ नहीं रहता, यह दूसरी बात। पहली बात को **पर** (श्रेष्ठ) ओज कहते हैं। और दूसरे को **अपर** (पर से भिन्न श्रेष्ठ से दूसरा) कहते हैं। पर की मात्रा आठ बूंद है, और अपर ओज की मात्रा आधा अञ्जली है। पर ओज का स्थान हृदय है, और अपर ओज का अनिश्चित-सारा शरीर है। जिस प्रकार कि दूध में मक्खन और घी दोनो हैं, उसी प्रकार से दूध रूपी शरीर में

* लेखक की 'हमारे भोजन की समस्या' में गोरस वर्ग देखें।

मक्खन रूपी अपर ओज, घी रूपी पर ओज दोनों रहते हैं। मक्खन की राशी घी से अधिक रहती है। इसी प्रकार अपर ओज की मात्रा पर ओज से अधिक है। यह मात्रा आंख से दृश्य नहीं; परन्तु साधक पित्त से सिद्धि प्राप्त किये योगियों से ही गम्य होगी। इस लिये मुनियोंने कहा है—

"तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः"।

भावना

संस्कृत में एक उक्ति है 'यादृशो भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशो' अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है; उसकी सफलता भी वैसी होती है। यही भावना रस शास्त्र में व्यवहृत होती है। आप लोह को जिस प्रकार भावना देंगे उसमें वैसे ही गुण आवेंगे। यही बात अमुक स्वर्ण, लोह, वग, ताम्र आदि सब के लिये है। यही कारण है कि शास्त्रों में एक एक वस्तु की भस्म करने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की भावना बताई हैं। परन्तु एक बात स्पष्ट कह दी है—

लोहानां मारणं श्रेष्ठं सर्वेषां रसभस्मना।
मूलीभिर्मध्यमं प्राहुः कनिष्ठं गन्धकादिभिः।
अरिलोहेन लोहस्य मारणं दुर्गणं प्रदम्॥

लोहों को पारद भस्म से मारना उत्तम है। जड़ों से मध्यम है, गन्धक आदि से कनिष्ट है। वैरी लोहे से लोहे का मारना हानि प्रद है। मारने के लिये उसको किसी वस्तु की भावना दी जाती है। भावना से वस्तु में गुण का उदय होता है। यह वास्तव में एक प्रकार का संस्कार ही है।

मृत स्वर्ण (भस्म) या स्वर्णपत्र शरीर में देने का विधान आयुर्वेद में है; यथा—

स्वर्ण का विलयन

अपक्वं हेमसंघृष्टं शिलायां जलयोगतः।
द्रवरूपं तु तत्पेयं मधुना गुणदायकम्॥
यद्वाऽपि वरकाख्यं तु स्वर्णपत्रं विचूर्णितम्।
मधुना संगृहीतं चेत्सद्यो हन्ति विषादिकम्॥ आयुर्वेदप्रकाश

यह स्वर्ण शरीर में से भले ही सारा बाहर आ जाय—परन्तु फिर भी अपना प्रभाव शरीर में छोड़ कर जाता है। जिस प्रकार कि रबड़ की नली में से दूध गिराने पर

भी नली में दूध की गन्ध रह जाती है, उसी प्रकार इस जीवित शरीर में स्वर्ण का प्रभाव भी रहेगा। दूध की मटकी से दूध निकालने पर भी उसका अंश दीखता है, इसी तरह शरीर से धातु भले ही निकल जाय, पर अपना अंश (प्रभाव) शरीर पर अवश्य छोड़ देते हैं। इसी से कहा है—"**न सज्जते हेमपाङ्ग पद्मपत्रेऽम्बुवद् विषम्**" कमल पत्र पर जैसे पानी नहीं रहता, इस प्रकार स्वर्ण खाने वाले के शरीर पर विष प्रभाव नहीं करता। इसीलिये जातकर्म में बच्चे को स्वर्ण भस्म देने का विधान है। यथा—

> "सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा ॥
> मत्स्याक्षकः शंखपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम् ॥
> श्रीसूक्तेन नरः कल्ये ससुवर्णं दिने दिने ।
> सर्पिः मधुयुतं लिह्यात् अलक्ष्मीनाशनं परम् ॥" सुश्रुत

पुट

सम्पुट या पुट का अभिप्राय दो शरावों में बन्द करके किसी वस्तु को अग्नि देने से है। इसके लाभ शास्त्र ने इस प्रकार कहे हैं—

> रसादिद्रव्यपाकानां प्रमाणज्ञापनं पुटम् ।
> नेष्टो न्यूनाधिकः पाकः सुपाकं हितमौषधम् ॥
> पुटनात् स्याल्लघुत्वं च शीघ्रव्याप्तिश्च दीपनम् ।
> जारितादपिसूतेन्द्रात् लोहानामधिको गुणः ॥

पुट पाक से औषध-धातु में लघुता आती है; जल्दी शरीर में व्याप्त हो जाता है; अग्नि को बढ़ाता है। पुटों में इस बात का ध्यान जरूरी है कि वस्तु को न तो अधिक पुट पाक दो, और न कम दो। यह समझना कि जितने अधिक पुट देंगे वस्तु उतनी उपयोगी होगी—सदा ठीक नहीं। ब्राह्मण के आगे लगाया गया 'महा' शब्द, अर्थ को बदल देता है।

एक सौ रुपये तोले की अभ्रक

कई रसायनशालायें चाँदी की डिब्बी में, चांदी के चम्मच के साथ एक हज़ार पुटी अभ्रक—एक सौ रुपये में बेचती है। विद्वान्—लब्ध प्रतिष्ठित वैद्य एवं सरकार

से सनद प्राप्त डाक्टर लोग उसे यक्ष्मा जैसे रोग में रोगियों को बतलाते हैं। उनकी मान्यता शायद यह है कि जितनी अधिक पुट की भस्म होगी (वह भी आंच में दी) वह गुणकारी होगी। परन्तु शास्त्र इस विषय में—

> **शतादिस्तु सहस्रान्तः पुटो देयो रसायने।**
> **दशादिस्तु शतान्तः स्याद् व्याधिनाशनकर्मणि॥**
> **सहस्रपुटपक्षे तु भावना पुटनं भवेत्।**
> **मर्दनं तु तथा न स्यादिति प्राचां हि सम्मतम्॥***

रसायन विषय में एक सौ से हज़ार तक पुट देना चाहिये। दस से सौ तक पुट रोग निवारण में देवे। इसी लिये साधारणतः रोग चिकित्सा में चालीस-पचास पुट की अभ्रक का ही व्यवहार गुरु शिष्य सम्प्रदाय में और वृद्ध वैद्यों में प्रचिलित है। जहाँ गुरु परम्परा नहीं वहां अभ्रक को चाँदी की डिब्बी में छोड़ सोने की डिब्बी में रखकर पाँच सौ रुपये से अधिक दाममें भी बेचा जा सकता है; यह मेरी मान्यता है। इससे अभ्रक अधिक गुणकारी नहीं बन जाती। एक और बात-अधिक पुट देने से रंङ्ग बदल जाता है; विशेष कर अभ्रक में। इसलिये रङ्ग को देखकर भस्म के अच्छे बुरे का सदा निश्चय नहीं करना चाहिये। क्षय आदि रोगों में रोगी की शक्ति क्षीण हो जाती है वह हज़ार पुटी अभ्रक जैसी शक्ति शाली औषध को सहन नहीं कर सकता। इसी से यह सम्भवतः यह नियम किया है

रोगों में जहाँ भस्मों से अधिक गुण लेना हो; वहाँ पर उनका अमृतीकरण करते हैं। अमृतीकरण का फल **"अमृतीकरणेन गुणवृद्धिः वर्णहानिश्च भवति"** यह अमृतीकरण प्रायः अभ्रक या **ताम्र** का किया जाता है। इस अमृतीकरण में पुटों की संख्या कम हो जाती है। अमृतीकरण वस्तु का उपयोग रोगों में हो सकता है; इससे कोई हानि नहीं।

एक भ्रम

कुछ विद्वान डाक्टर लोगों का विचार है कि एक हज़ार पुटी अभ्रक में ब्राऊनिंग गति आजाती है। इस गति का अभिप्राय परमाणु में

---

* वाजी कर्मणि विज्ञेयो पंच पंच शताधिके। पुटदोष विनाशः स्याद् पुटादेव गुणोदयः॥

हिलना जुलना है। इस गति के होने का अभिप्राय यह है कि वस्तु के कण अच्छी तरह सूक्ष्म हो गये। इसी अभिप्राय के लिये आयुर्वेद में घर्षण रगड़ने को गुण का बढ़ाना कहा गया है। जब वस्तु सूक्ष्म बारीक हो जायगी उसमें यह गति स्वयं आ जायेगी। यदि अभ्रक भस्म चालीस पुट की है; उसे धान्याभ्रक से बनाया, अच्छी प्रकार रगड़ा गया है; तो उसमें भी यह गति मिल जाती है। इसलिये इसी परीक्षा से अभ्रक को हज़ार पुटी मानना यह सत्य नहीं। जो लोग इस बात को समझते नहीं वे चाहे राजनीति में कितने ही ऊँचे पद पर हों; उनकी सम्मति इस विषय में विश्वसनीय नहीं। इस विषय में तो सम्मति उन्हीं की माननीय है-जिन्होंने—"**शिष्यास्त एव रचयन्ति पुरो गुरूणाम्**"-गुरुओं के सामने तलुवों में दबाकर खरल रगड़ी है, बाकी तो "**शेषाः पुनस्तदुभयाभिनयं भजन्ते**" वाली बात है।

वर्गीकरण

गीता में भगवान ने एक स्थान पर कहा है कि—"**चातुवर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः—**" मैंने गुणकर्म के अनुसार चार वर्णों की-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन वर्णों की रचना की है। सुश्रुत में धन्वन्तरि ने सांपों के गुण कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र (वर्ण-संकर) भेद किये हैं। ब्राह्मण को शान्त, क्षत्रिय को तेजस्वी, वैश्य को धनी (संचयी) और शूद्र को हीन कर्म वाला समझा जाता है। इस दृष्टि से जो सांप शान्त प्रकृति वे ब्राह्मण; तेजस्वी-क्रोधी सांप क्षत्रिय; भारीपन वाले सांप वैश्य, तथा हीन संस्कार वाले शूद्र हैं।

यही संस्कृति रसशास्त्र के आचार्यों ने भी बरती है। उन्होंने भी वर्गीकरण में रंग एवं गुणों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भेद किये हैं। यथा हीरे के विषय में—

"**ब्रह्म-क्षत्रिय वैश्य-शूद्र-विभेदा ज्ञेयाश्चतुर्धापत्रेः**" आयुर्वेदप्रकाश

यह आर्य संस्कृति है कि वर्गीकरण में ब्राह्मण आदि के भेद से वस्तु के गुणों का दर्शन-कल्पना सुगमता से हो जाती है। जैसे किसी प्रान्त के व्यक्ति का पता लगने से उसके गुणों का भान-कल्पना मनुष्य करता है; यह पंजाबी है-लोगों को भ्रम होता है कि शायद तेजस्वी होगा। गुजराती है; इस से पता चलता

है; कि शान्त है। इसी प्रकार ब्राह्मण कहने से उसकी शान्तता का; क्षत्रिय होने से तेजस्वीता समझ ली जाती है। यह इस संस्कृति में वर्गीकरण का लाभ है।

इस वर्गीकरण के साथ ब्राह्मण का रङ्ग श्वेत, क्षत्रिय का लाल, वैश्य का पीला, और शूद्र का काला कल्पना किया है। इस अवस्था में रङ्ग से वर्ण को समझ कर गुणों की कल्पना कर लेनी चाहिये। विष के भी भेद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भेद से किये हैं। यथा—

ब्राह्मणं पाण्डुरविषं क्षत्रियं रक्तवर्णकम्।
वैश्यं पीतप्रभं शूद्रं कृष्णवर्णविनिन्दितम्॥

तप्तखल्व

तप्तखल्व का अभिप्राय गरम खरल से है। इस खरल को एक खास प्रकार की अग्नि से गरम करते हैं-यथा—

अजा शकृत्तुषाग्निं च खातयित्वा भुवि क्षिपेत्।
तस्योपरि स्थितो लोहखल्वः स तप्तखल्वः॥

बकरी की मींगनी और तुष (धान के छिलके) इनकी आग बरते। बकरी की मींगनी की आँच बहुत तेज होती है, उधर तुष से आग जल्दी नहीं फैलती है। आख्यायिका है कि कुमारिल भट्ट ने अपना शरीर तुषाग्नि से जलाया था। इस अग्नि में आँच शनैः शनैः फैलती है; और मींगनियों के कारण तेज रहती है। इस में गन्धक के जलने का कोई भय नहीं रहता।

सोमल या संखिये का उपयोग

मारवाड़ और गुजरात में संखिये का जितना उपयोग आधुनिक पुस्तकों में या परम्परा रूप में प्रचलित है; उतना बंगाल में नहीं है। बंगाल में प्रचलित रसेन्द्र में इसका विशेष वर्णन भी नहीं मिलता। यही बात हरताल भस्म के लिये है। इसकी भस्म वैसे बना लें परन्तु भस्म के रूप में उपयोग विरला ही करता है। इसीसे आचार्य ने कहा है कि—

तालं मृतं तदा ज्ञेयं वह्निस्थं धूमवर्जितम्।
सधूमं न मृतं प्राहुः वृद्ध वैद्या इति स्थितिः॥

इयं परीक्षा वृद्धानां मुखेभ्य एव श्रुत्वा मया पद्येन निबद्धा, परं रस-शास्त्रेषु कुत्रापि न दृष्टा। भवतु सत्येयं, नामूला प्रसिद्धिरिति न्यायात् ॥

रसशास्त्रों में हरतालभस्म का विधान नहीं है; इसीप्रकार संखिये के विषय में भी सुनिये—

गौरीपाषाणकः प्रोक्तो द्विविधः श्वेतपीतकः।
श्वेतशंखसदृक् पीतो दाडिमाभः प्रकीर्त्तितः ॥
श्वेतः कृत्रिमकः प्रोक्तः पीतः पर्वतसम्भवः।
विषकृत्यकरौ तौ हि रसकर्मणि पूजितौ ॥ आयुर्वेदप्रकाश

संखिया विष का कार्य करता है। इसलिये रसकर्म में ही उपयोगी है। पाश्चात्य चिकित्सा का अनुकरण करके श्वास में संखिया देना–आयुर्वेद के ग्रन्थों में नही मिलता। किसी भी प्रचलित रसशास्त्र की पुस्तक में यह नहीं है। इससे लाभ होता है, परन्तु उस विष के विषैले परिणाम स्थायी हो जाते हैं।

कैलसियम या खटिक

आयुर्वेद में प्रवाल, शंख, मुक्ता, शुक्ति, वराटिका में जलज; चूना (सुधा) दूसरे स्थलज पदार्थ हैं। जिनको कि आधुनिक कैमिस्ट्री खटिक या कैलसियम की वस्तु मानती है। स्थलज कैलसियम और जलज कैलसियम में आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। परन्तु आयुर्वेद में प्रवाल और मुक्ता में भी अन्तर माना है। सत्तरह हजार फुट की ऊँचाई पर होने वाली और तीन हजार फुट की ऊँचाई पर होने वाली काश्मीर और मारवाड़ की ऊन में, उनकी गरमी में, उनकी कोमलता में, दामों में जैसे अन्तर रहता है, वैसे शंख और मोती के गुणों में अन्तर है। प्रवालमुक्ता* में भेद—

प्रवालं मधुरं साम्लम्।
मौक्तिकं सुमधुरं शीतलम् ॥ आयुर्वेदप्रकाश

* सुश्रुत में मुक्ता को पार्थिव इसलिये कहा है कि उसमें खरता गुण पृथ्वी का है प्राचीन आर्य मुक्ता की उत्पत्ति समुद्र से होती है, यह तो वे जानते ही थे। उनका वर्गीकरण पृथ्वी आदि पंचभूतों की दृष्टि से, हम विचार करें तो ठीक है।

अस्थि दौर्बल्य में कैलसियम की कमी समझकर पाश्चात्य चिकित्सापद्धति का अनुकरण करके प्रवाल या मुक्ता जैसी शीत वीर्य औषध देना, वायु को बढ़ाता है। आयुर्वेद अस्थियों में वायु की प्रधानता मानता है। शीत वस्तु वायु को बढ़ाती है। इसलिये वृद्ध वैद्यों को तो मैने स्निग्ध घृत आदि पौष्टिक उपचार अन्तः-बाह्य करते देखा। प्रवाल या ऐसी वस्तु देते नहीं देखा। साथ ही वातहर स्निग्ध तैल मलते देखा है। [रत्नप्रकरण में विस्तार से देखें] जैसा कि कहा है—

(१) अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पंचकर्माणि भेषजम् ।
वस्तयः क्षीरसर्पींषि तिक्तकोपहितानि च ॥

चरक. सू. अ २८।२६

(२) अस्थिक्षयजान् वस्तिभिः तिक्तकोपहितैश्च क्षीरसर्पिर्भिः॥ संग्रह

हैलीवर आयल का उपयोग तो किसी अंश तक संगत है।

गिलोयसत्त्व

गिलोयका उपयोग स्वरस, चूर्ण, क्वाथ, फाण्ट या हिमकषाय के रूप में ही आता है जैसा कि अष्टांगहृदय में लिखा है-**"गुडूचीं वा यथा तथा"** इसमें **"गुडूचीं यथा तथा—गुडूच्याः स्वरसं, कल्कं, चूर्णं वा क्वाथमेव वा"** यह वृन्द ने टिप्पणी दी है। इसमें सत्वका नाम भी नहीं है।

गिलोय की उक्त कल्पनाओं में कटुरस का कुछ न कुछ अंश रहता है। स्वरस में जितनी कटुता होती है, उतनी और कल्पनाओं में नहीं होती। गिलोय को परिभाषानुसार गीला-आर्द्र ही सदा लेना चाहिये, अथवा सुखाकर चूर्ण या क्वाथ करना चाहिये। गिलोय सत्व में तो कटु अंश सब जाता रहता है। इस लिये यह सत्व गिलोय का तो काम नहीं देगा। हां, मिल्कसूगर या स्टार्च का काम दे सकता है। इसको इस रूप में वरतना हो तो बरत सक्ते हैं। परन्तु गिलोय के गुण के लिये बरतना व्यर्थ ही है। इसीसे बम्बई की लब्धप्रतिष्ठित आयुर्वेदिक फार्मेसी के मालिक का यह कहना कि मैं आधा रतल गिलोयसत्व खाजाऊं तो भी कुछ हानि नहीं होगी; ठीक ही है।

प्रकृति ही रसायन-शाला है

ताम्र—सोने की बंगडी (चूडी) में ताम्बा इस लिये मिलाते हैं कि सोना

घिसे नहीं। गिन्नी आदि स्वर्ण के सिक्कों में ताम्बे का मिश्रण उस की दृढ़ता के लिये किया जाता है। जब ताम्र स्वर्ण को बाहर पकड़े रहता है; तो वह शरीर के अन्दर भी स्वर्ण को जल्दी निकलने नहीं देगा। क्यों कि मुनि ने कहा है कि-

"यावन्तो हि भावाअस्मिन्लोके तावन्तः पुरुषे यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके।"

जो इस लोक में है, वही इस पुरुष में, जो इस पुरुष में, वही इस लोक में है। इस प्रकार से ताम्र-स्वर्ण शरीर के अन्दर दृढ़-चिरस्थायी बना लेता है।

इसके अतिरिक्त ताम्र शरीर में जल्दी संचरण करता है। ताम्र की तारें हो विद्युत् शक्ति के प्रवाहण में उपयोगी हैं। भारतीय रसशास्त्र कहता है कि—

न विषं विषमित्याहुः ताम्रं हि विषमुच्यते।
एको दोषो विषे ताम्रे त्वष्टौ दोषाः प्रकीर्त्तिताः।

विष को विष नहीं कहते, ताम्र को ही विष कहते हैं। विष में एक दोष है, और ताम्र में आठ दोष हैं। इतना होते हुए भी विष चिकित्सा में ताम्र का उपयोग विधेय है—

विषयुक्ताय दद्याच्च शुद्धायोर्ध्वमधस्तथा।
सूक्ष्मं ताम्ररजःकाले सक्षौद्रं हृद्विशोधनम्॥
शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्॥ चरक. चि. अ २३

विष खाये हुये मनुष्य को शोधन-वमन, विरेचन देकर सूक्ष्म ताम्रभस्म देवे। फिर स्वर्ण देवे। विष को ताम्र ही नष्ट करता है; यह रसशास्त्र की मान्यता है।

यक्ष्मा आदि रोग भी विष वाले हैं। शरीर में रोग एक प्रकार का विष है। यक्ष्मा सब रोगों का राजा है। उसमें सब से अधिक विष है। विष को मारने के लिये ताम्र का उपयोग रसशास्त्र में है। विष के लिये ताम्र के साथ स्वर्ण का उपयोग हम मानते हैं। इसी कारण से यक्ष्मा में स्वर्ण और ताम्र के मिश्रित योग (सर्वांग सुन्दर) उत्तम हैं। यक्ष्मा का जो प्रसिद्ध योग स्वर्णवसन्तमालती है। उसमें भी खर्पर-खपरिया में ताम्र का योग है*। यथा—

*खर्पर में ताम्र की भाँति वान्ति-भ्रान्ति दोष रहते हैं। स्पष्टीकरण के लिये खर्पर और ताम्र देखें।

रसकं तुत्थभेदः स्यात् खर्परं चापि तत्स्मृतम् ॥ आयुर्वेदप्रकाश

रसरत्न-समुच्चय में **'तुत्थखर्परम्'** कह कर खर्पर का परिचय दिया है। स्वर्णवसन्तमालती में खर्पर आठ भाग है। इसमें तुत्थ रूपी खर्पर को स्वर्ण के साथ मिलाया है। यह तो वैद्य की कुशलता है कि वह रोगी-रोग की अवस्था के अनुसार विचारे कि ताम्र किस रूप में देना है। परन्तु प्लेग में (चण्डेश्वर रस), यक्ष्मा में (सर्वांग सुन्दर रस) आदि ताम्र के उत्तम योग हैं।

कुलत्थी

आगरे या देहली में पुराने संगतराश पत्थर काटने वाले पत्थर को आरी से काटते हुए बीच बीच में कुलत्थी का पानी डालते हैं; जिसप्रकार कि लोहार लोहा काटते हुए तेल चुआते जाते हैं। कुलत्थी के लिये मुनि ने कहा है कि **"अश्मनो भेदनः परम्"** कुलत्थी पत्थर को तोड़ने वाली है; इसलिये शिलाजतु के साथ नहीं खानी चाहिये, परन्तु रसशास्त्र में कुलत्थी का उपयोग धातुओं के शोधन में सूक्ष्म चूर्ण बनाने में है। यथा—

सुवर्णरूपताम्रायःपत्राण्यग्नौ प्रतापयेत्।
कृत्वा कण्टकवेधीनि दृष्ट्वा वह्निसमानि च ॥
निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैले तक्रे गवां जले।
काञ्जिके च कुलित्थानां कषाये सप्तधा पृथक् ॥

कुलत्थी से ये धातु टूट जायेंगे-भस्म के लिये योग्य हो जाते हैं। इसलिये कुलत्थी का विधान रसशास्त्र में है।

विचित्र बुद्धिमानी

कुछ लोगों का विचार या मान्यता है, कि रसौषध के प्रत्येक द्रव्य का शरीर के प्रत्येक अङ्ग पर होने वाले प्रभाव को वे बता सकते हैं। इस दृष्टि से दो-तीन पुस्तकें मराठी में देखी भी है। उनका यह कहना है कि—स्वर्णवसन्त-मालती क्यों क्षय में असर करती है; इस बात को वे अलग अलग कह सकते हैं। अर्थात् स्वर्ण ने क्या काम किया, मुक्ता का शरीर के अमुक स्थान पर यह

प्रभाव है; हिंगुल का इस स्थान पर यह प्रभाव है, मरिच का अमुक और खर्पर का यह असर या प्रभाव, शरीर के अमुक अङ्ग पर हुआ है।

यह पद्धति पाश्चात्य पद्धति का अनुकरण है। हमारे आयुर्वेद में रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव इन चार से अतिरिक्त कोई भी वस्तु औषध के निर्णय में सामन्यतः सहायक नहीं है। हमारे शास्त्र में रक्तस्थान, पाचनस्थान, मूत्रस्थान आदि विभाग नहीं है और न इन पर इस दृष्टि से रसशास्त्र लिखा ही गया है। यदि ऐसा होता तो ज्वर से लेकर वाजीकरण तक जितने भी एक-दो सौ रोग हैं, उनमें इन धातुओं से कैसे काम लेते? कज्जली, रसपर्पटी, रससिन्दूर ये एक ही समान हैं, परन्तु इनके गुणों में अन्तर हैं।

काष्ठौषध के लिये तो कुछ कहा जा सकता है कि, अमुक योग के अमुक घटक हैं, इसलिये यह योग ऐसा काम करेगा। परन्तु रसौषध तो अनुपान से काम करता है। एक ही मकरध्वज को अनुपान भेद से सब रोगों में बरतने वाले कविराज आज भी हैं। यह अनुपान काष्ठौषधियां ही होती हैं। अनुपान भेद से भस्मों का उपयोग रसतरङ्गिणी में विशेष रूप से दिया है। वास्तव में ये भस्में (विशेषकर पारद-गन्धक के योग की) योगवाही हैं।

इसी से मुनि ने कहा है कि—

नत्वेवं खलु सर्वत्र। नहि विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां द्रव्याणां परस्परेण चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैः विकल्पितानामवयव प्रभावमनुमानेन समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसितुं शक्यम्। तथायुक्ते हि समुदाये समुदायप्रभावतत्त्वमेवोपलभ्य, ततो रस, द्रव्य, विकार, प्रभाव-तत्त्वं व्यवस्येत्॥ चरक० वि० अ० १।

आयुर्वेद में प्रकृतिसमसमवेत और विकृतिविषमसमवेत-दो प्रकार के समुदाय-मिश्रण मिलते हैं। अर्थात् प्रथम में कारण के अनुसार कार्य है और दूसरे में कारण के अनुसार कार्य नहीं होता—उससे भिन्न वस्तु होती है। पहले को आजकल भौतिक मिश्रण कहते हैं और दूसरे को रासायनिक मिश्रण कहते हैं। अभ्रक आदि ये रासायनिक मिश्रण हैं। इनमें यह आवश्यक नहीं कि इनके घटकों के अनुसार ही अभ्रक कार्य करेगा। आजकल जो अभ्रक का विश्लेषण

अंग्रेजी की पुस्तकों से पृष्ठसंख्या बढ़ाने के लिये दिया जाता है; वह आयुर्वेद चिकित्साशास्त्र में व्यर्थ ही नहीं, अपितु भ्रमात्मक रहता है।* ये तो विकृति विषम समवेत हैं। इसलिये इनकी विवेचना तो समुदाय (अभ्रक) रूप में ही की जायगी। यह नहीं कि इसके घटक ये हैं, इसलिये इसमें यह गुण होना चाहिये या है; यह भूल है। उदाहरण के लिये जल, हाईड्रोजन और आक्सीजन इन दो वायुवों का एक समास है। वायु का धर्म ऊपर जाना है, परन्तु इनसे बना जल भारी होने से नीचे को जाता है। कितनी विपरीतता है? इसीप्रकार इन दो वायुवों में से आक्सीजन में थोड़ा अन्तर करने पर हाईड्रोजनपर आक्साईड बनता है, उसक धर्म जल से भिन्न है। इसीप्रकार यहां पर भी भेद रहेगा।

आयुर्वेदीय रसशास्त्र का मुख्य आधार विकृतिविषमसमवेत मिश्रण ही है। इसीलिये चतुर्मुख और वातचिन्तामणि के प्रायः एक ही घटक होने पर या योगेन्द्र रस के घटक समान होने पर भी, गुणों में अन्तर है। एक को एरण्डपत्र में लपेट कर धान्य राशि में रखते हैं, और दूसरे को नहीं रखते। कृष्ण-मृत्युञ्जय और रक्त-मृत्युञ्जय, कृष्ण-चतुर्मुख और रक्त-चतुर्मुख-इनके घटक परस्पर समान होने पर भी केवल रससिन्दूर और कज्जली के भेद से गुणों में अन्तर आज भी कविराज मानते हैं, तथा हमको पढ़ाते हैं और आंखों से दिखाते हैं।

इसलिये आयुर्वेद में, विशेषकर रसशास्त्र में विकृतिविषमसमवेत जन्य समुदाय तत्त्व का ज्ञान तो समुदाय के ही रस, द्रव्य, विकार, प्रभाव और तत्त्व से देखना चाहिये; न कि स्वर्ण, मुक्ता, और हिंगुल के अनुसार। अपितु इन सब के मिलित "स्वर्णवसन्तमालती" नामक समुदाय को-एक रूप में ही मानकर रस, द्रव्य, विकार तथा प्रभाव से जानना चाहिये।

रसशास्त्र के विषय में विचार समुदाय के रूप में ही है। इस शास्त्र में से अनुपान ही द्रव्य के गुण को बदल देता है। मृत्युञ्जयरस अनुपान भेद से वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषों में बरतते हैं।

दूसरी बात—साधारणतः आजकल चिकित्सा में एक और पाश्चात्य अनुकरण चल पड़ा है। अंग्रेजी दवाई प्रायः तीन या चार बार पीने को दी जाती

---

* श्री यादवजी महाराज का 'द्रव्य गुण विज्ञान' का प्रथम खण्ड विस्तार के लिये देखलें।

है (दवाई एक ही होती है)। इसी प्रकार वैद्य बन्धु भी सितोपलादि या एक ही औषध देकर उसे दिन में तीन या चार बार उसी प्रकार-एक ही अनुपान से बतला देते हैं। उनकी दृष्टि में प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल (गोधूलीवेला) और रात में कोई अन्तर नहीं होता। परन्तु आयुर्वेद तो कहता है कि-"**वयोऽहोरात्रि-भुक्तानां तेऽन्तमध्यादिकाः क्रमात्**" अर्थात् प्रथम कफ; फिर पित्त और फिर वात होता है। परन्तु रजिस्टर्ड वैद्य को इसकी चिन्ता नहीं होती।

उसे इतनी समझ नहीं कि सब धर्मों में पूजागृह, (मन्दिर) प्रातः समय खुलते हैं, सब प्रातःकाल भगवान् की पूजा करते हैं। मदिरालय, वेश्यागृह, नाचघर, पापघर रात को ही खुलते हैं। प्रातः शायद ही कोई मद्य पीता होगा। प्रातःकाल में अभिसारिकायें अपने घर आती हैं। यह क्यों ? यह प्रथा सारे संसार में है, भारत में ही नहीं; इसका कारण तो देखना था।

जब मनुष्य की वृत्तियों में प्रातः सायं में अन्तर है तो दवाई में तथा उसके अनुपान में अन्तर क्यों न हो ? वह तो होगा ही, प्रातः कफ के, मध्याह्न में पित्त के और सायं वायु के अनुपान से औषध देना चाहिये। यदि ऐसा न होता तो बागभट रात्रि में त्रिफला को आँख के रोग में खाने के लिये नहीं कहता *। इसीसे जत्रु से ऊपर के रोगों में रात्रि को औषध देने का शास्त्र में विधान है। अक्षिरोग में त्रिफलाघृत सूर्यास्त के पीछे ही लाभ करता, चूंकि सूर्य का तेज मन्द हो चुका होता है। आँख सूर्य का प्रतिनिधि है, उसके तेज के साथ तेज बढ़ता है। यही बात अञ्जन के लिये है-"**दिवा तन्न प्रयोक्तव्यं नेत्रयोस्तीक्ष्णमञ्जनम्**" (चरक) इसलिये आयुर्वेद का औषध देने में समय एवं अनुपान इन दो बातों का (विशेषकर अनुपान का) रसशास्त्र में बहुत ही गम्भीर विचार है। अनुपान के बिना रसौषध पूरा कार्य नहीं देता। रसौषध का चुनना, अनुपान का चुनना, ये दोनों पुस्तक पढ़ने से नहीं आते, इनके लिये तो-

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

---

*"पिबेदेतान् निशामुखे।" चक्रदत्त।

भगवान् का बताया हुआ मार्ग–"**गुरुमेवाभिगच्छेत्**" वाला रास्ता ही है। अंग्रेजी की बड़ी उपाधि यहाँ व्यर्थ है-इसे समझ लेना चाहिये।

संस्कार

"संस्काराद् द्विज उच्यते"–मनुस्मृति*

संस्कार का अर्थ गुणान्तर या गुण से है। यथा–नये पात्र में किया हुआ संस्कार जैसे अन्यथा नहीं होता; उसी प्रकार पुरुष में गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त सोलह संस्कार करने का सामान्य विधान है। 'संस्कार' के लिये मुनि ने कहा है कि—

"संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणास्तोयाग्निसन्निकर्ष-शौचमन्थनदेशकालवासनाभावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते॥" चरक. वि. अ. १।२

इस में जल और अग्नि के सन्निकर्ष से, शौच से (बार बार धोने से) चावलों का भारीपन हटाकर उनको हल्का बनाया जाता है; जैसा कहा है—"**सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नः सन्तप्तश्चौदनो लघुः।**" मन्थन से गुणाधान-दही शोथ करता है; परन्तु मथने पर बनी छाछ स्नेह युक्त होने पर भी शोथ नाशक है। देश यथा—भस्म राशि में या धान्य राशि में औषध को रख देवे। वासना से गुणाधान-जल को कमल आदि से सुगन्धित बनाना। भावना से गुणाधान-स्वर्ण को कचनार के रस से भावना दे। कचनार रक्तस्तम्भक है। इसलिये स्वर्ण में रक्तस्तम्भक गुण होने से क्षय में उपयोगी होगा। कालप्रकर्ष से-पन्द्रह दिन पीछे या सात दिन उपरान्त चतुर्मुखरस को बरते। भाजन पात्र से गुणान्तर यथा–"**त्रैफलेनायसीं पात्रीं कल्केनालेपयेत्**॥" आदि शब्द से पेषण, मंत्र आदि से अभिमन्त्रित करना है।

संस्कार से नये गुण उत्पन्न किये जाते हैं; इन गुणों को उत्पन्न करने के साधन जल, अग्नि, भाजन, भावना आदि हैं। इसी दृष्टि से पारद, अभ्रक,

* संस्कार होने से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बनता है, जन्म से नहीं। इसलिये संस्कार प्रधान है।

स्वर्ण आदि का भिन्न भिन्न रूप में संस्कार किया जाता है। इसीलिये शास्त्रों में स्वर्ण आदि के मारने की एक ही नहीं, अपितु अनेक विधियाँ दी हैं। स्वर्ण एवं ताम्र की मारने के लिये रोग के अनुसार औषधियों से भावना दी जाती है।

यही बात पारद के साथ है। पारद के संस्कार, १६, १८, ८, और २ तक हैं। कहीं कहीं तो हिंगुल से शुद्ध रूप में निकाला पारा विना किसी संस्कार के साधारण रूप में बरत लिया जाता है। संस्कार जैसे प्रत्येक मनुष्य के लिये उपयोगी है; उसी प्रकार धातुओं के लिये, या रस के विषय में आवश्यक है। **संस्कार से दोषों का नाश और गुणों का उदय होता है।** इसलिये प्रत्येक धातु का संस्कार किया जाता है। इन में पारद के साथ किया संस्कार उत्तम है; क्योंकि पारद स्वयं धातु के प्रत्येक परमाणु में घुस जाता है। इसी से कहा है—

"न रसेन विना लोहं न लोहं चाभ्रकं विना।
एकत्वेन शरीरस्य बन्धो भवति देहिनः॥
पारदेन विना लोहं यः करोति पुमानिह।
उदरे तस्य किट्टानि जायन्ते नात्र संशयः॥

वस्तुतस्तु प्राशस्त्याय रसयोगो रसाभ्रयोगश्च। "आयुर्वेदप्रकाश"

इसलिये सब धातुओं का पारद से संस्कार करना उत्तम कहा है। रसशास्त्र में मर्दन (पेषण), भावना, पुट (अग्नि योग) इनका अधिक उपयोग होता है। इनके संस्कार से ही वस्तु में गुणों का उदय होता है। जहाँ इनकी कीमत नहीं; वहाँ स्वर्णवसन्तमालती बारह रुपये तोले क्या? आठ रुपये तोले में मिल जाती है। परन्तु जहाँ इन बातों का—संस्कार का विचार है, वहाँ यही औषध चालीस रुपया तोला मिलता है। फार्मेसियों में संस्कार का विचार नहीं होता; इसलिये औषध सस्ता मिल जाता है। भारतीय रसशास्त्र का आधार, महत्ता संस्कार पर है, जिस प्रकार कि मनुष्य की पहिचान उसके संस्कार से है। जिस प्रकार आर्य संस्कृति में प्रत्येक मनुष्य का संस्कार जरूरी है; उसी प्रकार रसशास्त्र में धातुओं का, रत्नों का, संस्कार अनिवार्य एवं आवश्यक है।

प्रकरण तीसरा

पारद

पर्याय—पारद, रस, सूत, रसेन्द्र, रस, ये मुख्य पर्य्याय हैं।

बाजार में पारा, पारे के रूप में तथा शिंगरफ (हिंगुल) के रूप में मिलता है। शिंगरफ रूमी तथा दूसरा डली का मोटा बाज़ार में मिलता है। पारा भी एक तो शुद्ध मिलता है, और दूसरा अशुद्ध मिलता है। शुद्ध पारा मर्क कम्पनी का दो बार ऊर्ध्व पातित होता है। यह प्रायः शुद्ध होता है।

शुद्ध का अभिप्राय यह है कि इसमें अशुद्धि नहीं होती। पारे की अशुद्धियों को शास्त्र ने कंचुक या आवरणों के नाम से कहा है। ये आवरण या मलिनतायें पारे के स्थान के कारण आ जाती हैं; जिसप्रकार कि पानी में देश का प्रभाव आता है। इन अशुद्धियों को निकालने के लिये ही पारे के संस्कार किये जाते हैं। साधारणतः ये संस्कार मर्दन, मूर्च्छन, या पातन हैं। आयुर्वेद प्रकाशकार ने स्वेदन को उपयोगी कहा है; परन्तु इस कर्म-स्वेदन संस्कार का उपयोग पारद के लिये कम ही करते हैं। यथा -

एतावदप्यशक्तः कर्त्तुं सूतस्य शोधनं मनुजः।
स्वेदनं-मर्दन-मूर्ध्वपातनमेतत् त्रयं कुर्यात् ॥

शोधन—पारा शोधन में मात्रा सौ पल से लेकर एक कर्ष तक का विधान है। साधारणतः रसशोधन या दूसरी भस्मों के बनाने में मात्रा अधिक से अधिक लेनी चाहिये। क्योंकि थोड़ी मात्रा पर भी प्रायः वही मेहनत, खर्च आता है; जो बड़ी मात्रा पर आता है। साथ ही ये वस्तुयें बिगड़ती भी नहीं, अपितु अधिक गुणवती होती हैं, जैसा कि कहा है—"**पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवो धातवो रसाः।**" इसलिये पारद की जितनी मात्रा ठीक लगे उसको लोहे के या पत्थर के (सवाईमाधोपुर जैसे मजबूत) खरल में डाल देवे।

प्रथम विधि—ईंट का चूरा, ऊन, हल्दी, घर का धुंवासा, सैन्धव, अजवायन, राई, सोंठ, इनमें से अधिक से अधिक वस्तुवों के साथ पारे को रगड़े। ये

वस्तुवें पारे से १⁄१६ वाँ भाग प्रत्येक होनी चाहिये। चार-पाँच दिन रगड़ कर कांजी से या बिजौरे या गलगल का रस मिलाकर धोते रहना चाहिये। यह रस तब तक डालते रहना चाहिये, जब तक इसमें से कालसपन पानी में आये।

दूसरी विधि--पारे में लहसुन का रस और ऊन या ईंट का चूरा (रगड़ पड़े इसलिये) मिलाकर रगड़ना चाहिये और गलगल के रस या खटाई से धोना चाहिये।

तीसरी विधि--हल्दी, घर का धुँवासा, नमक इनको मिलाकर घीकार और चित्रक के क्वाथ से रगड़ना चाहिये। और पहले की भाँति खटाई से धोये। धोने पर पारा-शुद्ध पारा-अन्दर से नीली झाँई का, उजियाला, तेजस्वी हो जाता है। जैसा कि कहा है--

अन्तः सुनीलो बहिरुज्ज्वलो यो मध्याह्नसूर्य्यप्रतिमप्रकाशः।
शस्तोऽथ धूम्रः परिपाण्डुरश्च चित्रो न योज्यो रसकर्मसिद्धौ॥

जब तक पारे में काली झाँई पानी में आये तब तक उसे शुद्ध नहीं समझे।

लहसुन की भाँति, पान के पत्तों के रस, आर्द्रक के रस, त्रिफला के क्वाथ से भी पारे को भली प्रकार रगड़ते रहें। रगड़ने के पीछे कांजी, गलगल, बिजौरे आदि खट्टी वस्तुवों से खूब धोना चाहिये।

ऊर्ध्वपातन--इसमें पारा तीन भाग, ताम्बा एक भाग, मिलाकर जम्बीरी नीबू के रस से मर्दन करे। इसकी पिण्डाकार बनाकर एक हंडी में रखकर ऊपर दूसरी हांडी ऊँधी रखकर-ऊर्ध्वपातन विधि से पारद को उड़ा लेना चाहिए। पारे को ऊर्ध्वपातन, अधःपातन या तिर्यक्पातन भी करते हैं। तिर्यक्-पातन का एक सरल रूप श्री वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य बम्बई वाले ने बताया है। उनकी विधि यह है कि जिन शीशियों में पारा आता है वे जस्ते की या सीसे की शीशी लेकर उस शीशी के मुखपर एक लोहे का डाट ऐसा लगवाया जाय जिसमें से न वायु जा सके और न बाहर आये। इस डाट में एक नली लगाकर इस नली को दूसरी लम्बी नली (एक फीट या १½ फीट) के साथ जोड़कर पानी में पहुंचा देवे। अब शीशी को स्प्रीट लैम्प पर धीमी आंच से गरम करे। पारा अपनी

शीघ्र उड़न शीलता से उड़ कर पानी में आ जायेगा। चूँकि यह पारा वाष्प बन कर आया है, इसलिये शुद्ध होगा, जिसप्रकार तिर्यक् पातित जल शुद्ध होता है।

इस विधि में सरलता है। केवल पारद का औषधियों के साथ मर्दन नहीं होता। यदि मर्दन करके फिर शोधन इस विधि से करें तो शीशे का या जस्ते का गुण शायद पारे में आयेगा, परन्तु तिर्यक्पातन होने से वह निकल जायेगा।

यहाँ पर यह स्मरण कर लेना चाहिये कि रससिन्दूर बनाने में सीसे का भी योग प्राचीन आचार्यों ने दिया है। यथा—"**भागी रसस्य त्रय एव भागा गन्धस्य माषः पवनाशनस्य।**" इसमें सीसा मिला पारा उतनी जल्दी नही उड़ता जितना कि शुद्ध पारा उड़ता है। इसलिये सीसे की शीशी का कोई खास दोष नहीं है। पातनक्रिया में सीसा नहीं आयेगा। *।

मूर्च्छना और जारणा—शुद्ध पारा इतनी क्रिया के होने से कुछ सुस्त—चंचलता रहित हो जाता है। इसको रसशास्त्र वाले नपुंसक अवस्था कहते हैं। इस पारे को कुछ देर तक नीबू के रस में, या नमक के पानी में रखने से पारे का नपुंसकपन दूर हो जाता है। इस पारे को आगे गन्धक आदि से मिलाया जाता है। यथा—'**किंच मूर्छना जारणा इत्यनर्थान्तरं प्रायः।**" मूर्छना और जारणा प्रायः ये शब्द एक ही अर्थ को बताते हैं। मूर्छना का उद्देश्य—"**अव्यभिचरित-व्याधिघातकत्वं मूर्च्छना**" बिना अपवाद के निश्चित रूप में रोग का नाश करना मूर्छना है। यह मूर्छना बहुत प्रकार की है। परन्तु मुख्यतः दो प्रकार की है; एक गन्धक के साथ, यथा रससिन्दूर आदि में। दूसरी बिना गन्धक के, साथ, यथा रसकर्पूर आदि में। इसमें निर्गन्ध मूर्छना के लिये कहा है कि—'**निर्गन्ध-मूर्च्छना तु विषाद्यौषधिभिरेकरूपपरम (पामर) योगिनां संमता।**" इतना कहकर आगे कहते हैं कि—"**गन्धकजारणरहितः संशुद्धोऽपि रसो योगेषु न योज्यः। गदहन्तृत्वशक्ति-अनुदयात्॥**" आयुर्वेदप्रकाश

इसलिये प्राचीन रसशास्त्र में पारद को गन्धक के साथ मिलाने का ही सब स्थानों पर विधान है। आधुनिक चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले ग्रेपाउडर (हाइड्रा

---

* 'गन्धस्य भोगो नवसादरस्य' इति मुख्यः पाठः। केवल पवनाशनशब्देन सीसकं व्याचष्टे। तत्तु धातुवादे उपयुज्यत इति ज्ञेयम्। (स्वयं बङ्ग में भी नवसादर बरतते हैं।)

जराईकम औषध) (मुग्धरस) को संस्कृत के श्लोकों में लिख कर रसशास्त्र में मिलाना गन्धक जारण के महत्त्व की दृष्टि से भारतीय रसशास्त्र में ठीक नहीं बैठता, यह मेरी मान्यता है।

भारतीय रसशास्त्र में तो पारद का गन्धक के साथ सम्बन्ध स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध है। स्त्री पुरुष के बिना जैसे सृष्टि असम्भव है वैसे पारद और गन्धक के बिना रोग का हरना असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य है।

गन्धक जारण विधि— गन्धक को जारण करने के लिए कई रूप हैं। समान भाग में, द्विगुण भाग में या षडगुण भाग में गन्धक पारे के साथ मिलाकर जारित की जाती है। इसमें केवल गन्धक को पारे के साथ जला देना ही उद्देश्य नहीं, अपितु गन्धक को पारे के साथ भली प्रकार रगड़ना भी जरूरी है। यह मर्दन-घर्षण क्रिया इतने तक आवश्यक है कि इसमें जरा भी चमक पारे का कोई कण पृथक् नहीं दीखे। साथ ही इसका चूर्ण इतना सूक्ष्म हो जाये कि हाथ की रेखाओं में बिना दवाव के सुगमता से आ जाय। इतना सूक्ष्म चूर्ण बिना बनाये गन्धक जारण करने से कुछ लाभ नहीं। गन्धक जारण का लाभ पारा-गन्धक की उत्तम कज्जली पर ही निर्भर है।

प्रायः द्विगुण मात्रा में पारे से गन्धक मिलाकर कज्जली या रससिन्दूर बना कर प्रयोग करते हैं। कहीं २ पर समान मात्रा में या छै गुणी मात्रा में मिलाकर भी जारण करते हैं। परन्तु इसे स्मरण रखना चाहिये कि बिना भावना दिये, (रगड़े बिना) जल्दी में छै गुणा गन्धक जलाने से भी उतना लाभ नहीं, जितना कि भली प्रकार रगड़ कर द्विगुण गन्धक जलाने से होता है। प्रायः द्विगुण गन्धक जारण की ही प्रथा है।

यह गन्धक जारण कच्छपयन्त्र या बालुकायन्त्र से की जाती है। इसमें भी बालुकायन्त्र का उपयोग प्रायः करके होता है। छै गुणा गन्धक जारण में कच्छपयन्त्र को बरतते हैं। बालुकायन्त्र में गन्धक जारण देर में तो होता है; परन्तु होता भली प्रकार है।

बालुकायन्त्र में गन्धक जारण अन्तर्धूम और बहिर्धूम विधि से दो प्रकार का है। इसमें भी प्रायः बहिर्धूम विधि की प्रथा है।

रससिन्दूर—इसमें पारा और गन्धक मुख्य वस्तुयें हैं। कहीं २ आचार्यों ने नवसादर मिलाया है, कोई कोई आचार्य फिटकरी, और घर का धुवाँसा भी मिलाते हैं। साधारणतः इनको रगड़ा ही जाता है। किसी वस्तु की भावना की जरूरत नहीं होती। परन्तु कई स्थानो पर वटजटा, सिम्बलमूल की भावना भी देते हैं। यह भावना कज्जली सम्पूर्ण बनने पर देनी चाहिये और फिर द्रवांश बिलकुल सुखा देना चाहिये।

कज्जली—बनाने में पारा आठ तोला, गन्धक आठ तोला लेवें। इसमें ये दोनों शुद्ध ही लेने चाहिये। दोनों को खरल में डालकर खूब रगड़ना चाहिये। जब पारे की चमक जाती रहे तब इसमें यदि नौसादर मिलाना हो तो तीन मासे मिला दें। साधारणतः नौसादर की कोई विशेष जरूरत नहीं होती। नौसादर से सम्भवतः रङ्ग खिलता है; परन्तु साथ ही कुछ कड़ापन आता है।

इस कज्जली को बालुकायंत्र में रखकर-मृदु, मध्य, तीक्ष्ण अग्नि से क्रमशः पाक करे। जब गन्धक जीर्ण हो जाय, (गन्धक का निकलना बन्द हो जाय, पीला धुवाँ बन्द हो जाय) तब इसमें डाट लगाकर मुख बन्द कर देना चाहिये। कई बार नौसादर से पहले भी मुख बन्द हो जाता है, उस समय शलाका से मुख खोल देना चाहिये। कई बार पीछे से गन्धक के कारण ही मुख ऊपर से बन्द हो जाता है, उस समय डाट लगाने की जरूरत नहीं होती। जैसी भी अवस्था हो वैसा कर लेना चाहिये।

कज्जली और रससिन्दूर के बीच का एक रूप पर्पटी है। इसको **रसपर्पटी** कहते हैं। इसमें कज्जली को लोहे की कलछी या पात्र में थोड़ा सा घी डाल कर तप्त खल्वयन्त्र में या कोयलों पर पिघला कर गोबर पर बिछाये केले के नरम पत्ते पर बिछा देते हैं। फिर तुरन्त दूसरे केले के पत्ते से दबाकर चपटा कर लेते हैं। इसको रसपर्पटी कहते हैं।

कज्जली, रसपर्पटी, रससिन्दूर-ये तीनों पारद और गन्धक की मूर्छना या जारण के योग हैं। केवल अग्नि पाक की भिन्नता से रूप एवं गुणों में अन्तर है। गन्धक भिन्न भिन्न आंच पर भिन्न भिन्न स्फटिकों में बदलती है; उसके अनुसार

गुणों में भी अन्तर आ जाता है। इसी कारण से कज्जली, रसपर्पटी, रससिन्दूर के गुणों में भेद है।

यहां पर एक बात का और ध्यान रखना जरूरी है, कि हिंगुल-रूमी और काठा भेद से दो प्रकार का बाज़ार में है। इनमें रूमी हिंगुल उत्तम है। उसके किनारे पर देखने पर उसमें पारे के कण लम्बे होते हैं और इसी से यह जल्दी टूटता है। काठा हिंगुल कठोर होता है। उसके अन्दर पारा कम रहता है। इस प्रकार जिस मकरध्वज या रससिन्दूर में पारद अधिक मात्रा में होगा, वह जल्दी टूटेगा। और टूटने पर उसमें स्फटिक कण लम्बाकार चमकदार होंगे। परन्तु पतली परत होने के कारण यह कण छोटे दीखते हैं। रससिन्दूर का खरपाक जिसमें कठोरता हो, वह पीसनेमें दुर्भर रहता है। बिना बारीक सूक्ष्म हुए यह गुणकारी नहीं होता। खरपाक बुरा नहीं परन्तु पीसना पड़ता है। बंगाल में मृदुपाक हाथ से बुरकने वाला पसन्द होता है। गुजरात-पंजाब में खरपाक कठोर पसन्द करते हैं।

यही बात पर्पटी की है। पर्पटी मृदुपाक हाथ से चूरा हो जाने वाली ही उत्तम है। खरपाक पर्पटी पारद की मात्रा कम रहती है। तीव्र आंच पर पारा उड़ जाता है। इसलिये मृदुपाक उत्तम है।

कज्जली के गुण –(१) विद्रधि, विशेषतः अन्तर्विद्रधि में कज्जली को दो से चार रत्ती मात्रा में वरुणादि कषाय से या सहजन के क्वाथ से मधु के साथ देनी चाहिये। (२) कज्जली को कैल के तेल में, या शीशम के तेल में (पातालयंत्र से निकाले) मिलाकर बनाने से अथवा मक्खन या घी में मिलाकर रगड़ने से पामा, कण्डू, दाद, खुजली मिटती है। (३) कज्जली दो रत्ती मात्रा में मधु के साथ चाटने से वमि बन्द होती है।

रसपर्पटी के गुण– इसकी मात्रा दो रत्ती से आरम्भ करके बढ़ाते जाते हैं। रसपर्पटी का उपयोग मुख्यतः ग्रहणीरोग में होता है (१) इसमें हींग ½ रत्ती (घी में भुना), जीरा आठ रत्ती, पर्पटी २ रत्ती मिलाकर देते हैं। इसमें तक्र का ही पथ्य देते हैं। (२) वातिक ज्वर में दशमूल के कषाय से देते हैं। (३) कास में त्रिकटु के चूर्ण के साथ देते हैं। ग्रहणी रोग में तक्र के सिवाय पानी किसी भी प्रकार का पर्पटी सेवन काल में नहीं देते।

रससिन्दूर के गुण--

**"अपहरति रोगवृन्दं द्रढयति कायं महद्बलं कुरुते ।
शुक्रशतानि च सूते सिन्दूराख्यो रसः पुंसाम्" ॥**

प्रायः करके सब योगों में रससिन्दूर का उपयोग है। इसका उपयोग कफ, पित्त, वायु सब के रोगों में होता है। रससिन्दूर पित्त को निकालता है, परन्तु विरेचक नहीं। रूक्ष होने से कफ को सुखाता है, परन्तु ऊष्ण होने से वात कोपक न होकर वातशामक है। इसीलिये वातव्याधि के योगों में इसका प्रयोग मिलता है (यथा चतुर्मुख, वातचिन्तामणि में)। देर तक देने पर भी पारद के विकार नहीं होते। प्रायः सब रोगों में अनुपान भेद से बरता जाता है। साधारणतः ज्वर में आर्द्रक के रस से (कफज्वर में), गिलोय के रस से (पित्तज्वर में); पान के स्वरस से (वातज्वर में); हरसिंगार के रस से (पुराने ज्वर में) मधु के सथ मिलाकर दो रत्ती की मात्रा में देते हैं। रससिन्दूर को अति सूक्ष्म पीसना चाहिये; तभी यह गुणकारी है। उन्माद में या नींद न आने पर तगरादि क्वाथ से या जटामांसी क्वाथ से इसको देना चाहिये। ज्वरसंहार (लालगुड़ा) रससिन्दूर का उत्तम योग है, जो कि ज्वर प्रतिश्याय में बहुत प्रसिद्ध है। अनुपान से ही रससिन्दूर, मकरध्वज सब रोगों में कुशल वैद्य बरत लेते हैं।

अपथ्यः--कूष्माण्ड, ककड़ी, कोल (बेर), कलिंग (तरबूजा), करौंदा, करीर इन सबको छोड़ देवे। मकोय, करेला, कंकोड़ा भी अपथ्य हैं।

रसकर्पूर और रसपुष्प

पारद के ये दो समास रसतरङ्गिणी में दिये हैं। ये समास क्रमशः मर्करी पर क्लोराईड या मर्करी सबक्लोराईड या कैलोमल के नाम हैं। शास्त्र में रसकर्पूर जो दिया है, वह इससे भिन्न है [देखिये आयुर्वेद प्रकाश पृष्ठ ४७ में]। आजकल रसकर्पूर या रसपुष्प को वैद्य प्रायः बनाते नहीं। रसकर्पूर का उपयोग भी कम ही मिलता है।

मकरध्वज

सोना एक तोला, पारा शुद्ध आठ तोला, शुद्ध गन्धक सोलह तोला लेना चाहिये।

स्वर्ण में कुन्दन सोना लेना उत्तम है। अभाव में वरक लेना चाहिये। सोने को पारद में डालकर रगड़ना चाहिये। जब सब स्वर्ण मिल जाय तब थोड़ी थोड़ी गन्धक डालकर रगड़ना चाहिये। रगड़ते रगड़ते इसमें चमक नहीं रहनी चाहिये। चमक बिल्कुल नष्ट हो जाय तब कपास के लाल फूलों से भावना देवे। पीछे से घीक्वार के रस से भावना देवे। इस द्रवांश से भली प्रकार रगड़ जाने पर, पूर्ण शुष्क करके बालुकायंत्र में रखकर पाक करे। पाक-विधि रससिन्दूर की भांति है।

श्रीसिद्ध-मकरध्वज--मकरध्वज की अपेक्षा इसमें स्वर्ण चार गुणा अधिक होता है। इसमें गन्धक भी छः गुणा जारित करते हैं। इसलिये मकरध्वज से अधिक उपयोगी है।

उपयोग—प्रायः रससिन्दूर की भांति है। परन्तु रससिंदूर से अधिक गुणकारी है। स्वर्ण के साथ में पाक होने से पारे में स्वर्ण का ओज-गुण आ जाता है। जो रससिंदूर में नहीं होता। जिस प्रकार बिजली या किरणों के शरीर से स्पर्श होनेमात्र से शरीर में प्रभाव हो जाता है, उसी पकार पारद और स्वर्ण के मिश्रण से पारद में स्वर्ण का, स्वर्ण पर पारद का प्रभाव आ जाता है। यह स्वर्ण ओज-रहित होकर कसौटी पर पहली चमक नहीं देता। भले ही स्वर्ण बाहर आ जाय।

हिंगुल से रससिन्दूर

"आरोटकमन्तरेण हिंगुलगन्धकाभ्यां पिष्टाभ्यामपि सिन्दूररसः संपाद्यः। आरोटकशब्दस्तु शुद्धपर्य्यायवाचकः ॥ आयुर्वेदप्रकाश

अशुद्ध हिंगुल की गन्धक के साथ कज्जली बनाकर रससिन्दूर बना लेना कोई हानिकारक नहीं। इसमें पारद का ऊर्ध्वपातन होने के साथ रससिंदूर की क्रिया भी हो जाती है। इसमें गन्धक हिंगुल से द्विगुण मिलाते हैं। इसमें रंग भी अच्छा आता है। गन्धक का जारण भी अधिक होता है और समय भी कम लगता है। यह विधि सरल और उत्तम है।

हिंगुल से पारा निकालना

इसके लिये दो विधियां चालू हैं। पहली विधि में हिंगुल को जम्बीरी निम्बू

से रगड़ कर ऊर्ध्वपातनयंत्र से पारा निकालते हैं। इसमें पारा काली स्याही के रूप में ऊपर लगता है। पानी डालकर मलने से सब पारा एकत्रित हो जाता है।

दूसरी विधि में-हिंगुल को शोधन करके इसके ऊपर कपड़े लपेट कर एक गोला बड़ा सा बना लेते हैं। इस गोले को एक चौड़े-परन्तु गहरे पात्र में रखकर जलाते हैं। जलाने के लिये थोड़ा सा मिट्टी का तेल इस पर लगा देते हैं। जब जलने लगे तो इसको ढांप देते हैं। वायु जाने के लिये कुछ रास्ता छोड़ दिया जाता है। गोले के जल चुकने पर पारा इस गोले में कणों के रूप में मिलता है। इसको मल कर पानी में घोल कर प्राप्त कर लेते हैं। यह पारा सम्पूर्ण रूप में शुद्ध होता है। इसके शोधन के लिये संस्कारों की जरूरत नहीं होती। ऊर्ध्व-पातन से निकाला पारा इसमें श्रेष्ठ है।

हिंगुल-शोधन

बाजार में रूमी और काठा भेद से शिंगरफ मिलता है। इसमें रूमी शिंगरफ उत्तम है; चूंकि इसमें पारा अधिक होता है। यह हिंगुल भंगुर होता है। खनिज हिंगुल सख्त होता है।

शोधन—हिंगुल को खरल में डालकर-जम्बीरी निम्बू के रस की सात भावना देवे। अथवा आर्द्रक के रस की, या भेड़ के दूध की अथवा कांजी आदि अम्ल वर्ग से सात भावना देनी चाहिये। हिंगुल का शोधन ही प्रचलित है और कार्य प्रायः नहीं देखे जाते। यथा—

"हिंगुलस्य शोधनमेव दृष्टं रसग्रन्थेषु नान्यत् क्रियान्तरम्।"

आयुर्वेदप्रकाश

प्रयोग—प्रायः शुद्ध हिंगुल का प्रयोग अकेला कम है। रससिन्दूर के अभाव में वातज्वर में या प्रलाप में एक या आधी रत्ती आर्द्रक के रस और मधु से देते हैं।

विचारणीय वस्तु—आयुर्वेद में पारद के जितने समास हैं; उन सब में गन्धक का मिश्रण-मूर्च्छना है। मुश्किल से सारे रसयोगों में पचास भी ऐसे प्रसिद्ध योग नहीं; जिनमें गन्धक न हो। इसलिये आयुर्वेदोक्त पारे के योगों से पारद विकार कदाचित् ही होते हैं। इसी से शास्त्र में कहा है—

"गन्धकजारणरहितः संशुद्धोऽपि रसो योगेषु न योज्यः । गदहन्तृत्वशक्त्यनुदयात् ॥"

इसलिये उपदंश में जो लोग पारा गन्धक के बिना (यथा अमीररस–सिद्धभैषज्यमणिमाला का) देते हैं, उससे यदि पारद विकार–मुख का आना, दाँतों का हिलना होता है, तो यह आयुर्वेद का अपराध नहीं है । आयुर्वेद में गन्धक के विना पारद का उपयोग सामान्यतः मान्य नहीं है ।

चौथा प्रकरण

गन्धक

पर्याय—गन्धक, गन्धपाषाण, सौगन्धिक, वलि, पामारि, सुगन्धक, अपनी विशेष गन्ध से सबको प्रसन्न करने के कारण इसको गन्धक कहते हैं । इसका मुख्य उपयोग—

"रसस्य बन्धनार्थाय जारणाय भवत्ययम् ।
ये गुणाः पारदे प्रोक्ताः ते चैवात्र भवन्तु इति ॥" आयुर्वेदप्रकाश

गन्धक पारद को बांधने के लिये और जारण करने के लिये है । अर्थात् गन्धक से बंधा पारा शरीर से बाहर जल्दी नहीं जाता, साथ ही जीर्ण भी होता है, पच जाता है, शरीर का भाग बन जाता है। इस लिये शरीर में विकार नहीं करता। विकार तभी करे जब उस का पाचन न हो, वह स्वतंत्र रहे । इसके सिवाय पारद के गुण भी इस में हैं । इस लिये पारद का गन्धक के साथ मिश्रण करने पर उसके गुण बढ़ जाते हैं । गन्धक पारद के एक एक अणु के साथ मिल जानी चाहिये । इस लिये शास्त्र ने जो यह कहा है कि —

(१) दिव्या तनुर्विधेया हरगौरीसृष्टिसंयोगात् ।
(२) षड्गुणे गन्धके जीर्णे सर्वरोगहरो रसः ।

पारा और गन्धक के योग से दिव्य शरीर बनाना चाहिये । छै गुणी गन्धक जारित होने पर पारद सर्वरोगों को नष्ट करता है । ठीक ही है ।

उत्तम गन्धक—नवनीतसमप्रभः-मक्खन के समान कान्ति का, चिकना

(खुरदरा नहीं, दण्डा गन्धक नहीं), कठिन (कठोर-सल्फरसब्लाईम नहीं), स्निग्ध (चिकना-आंवलसार जैसा), गन्धक उत्तम है ।

शोधन—(१) लोहपात्र में घी डालकर गरम करे । घी के पिघलने पर इसमें घी के बराबर गन्धक कूटकर (दरदरा करके) डाल देवे । गन्धक के पिघल जाने पर—दूध से आधे भरे पात्र के ऊपर पतला कपड़ा बांध कर उसमें से इस गन्धक को नीचे दूध में गिरावे । ठण्डा हो जाने पर पानी से धो ले; इस प्रकार तीन बार करे । तीनों बार दूध नया नया लेना चाहिये । इसका ला—

"एवं संशोधितः सोऽयं पाषाणानम्बरे त्यजेत् ।
घृते विषं तुषाकारं स्वयं पिण्डत्वमेति च ॥"

गन्धक के पत्थर आदि कपड़े में रह जाते हैं । और गन्धक का विष घी में शान्त हो जाता है । सब विषों में घी का उपयोग आयुर्वेद में है । यथा—

दानव्यं सर्वरोगेषु घृताशिनि हिताशिनी ।' प्रकाश

(२) गन्धक को पिघला कर भांगरे के रस में छाने । इस प्रकार सात बार करे ।

प्रयोग—(१) शुद्ध गन्धक १ मासा लेकर घीं, मधु, त्रिफला के साथ खाने से आंख की दृष्टि बढ़ती है ।

(२) मुर्दाशंख, सुहागा, कर्पूर, गन्धक, इन के चूर्ण को नारियल के तेल में मिलाकर लगाने से पामा, खुजली नष्ट होती है ।

गुण—गन्धक रसायन, मधुर रस, कटुविपाक, उष्णवीर्य, कण्डु-कुष्ठ-वीसर्पनाशक; अग्निदीपक; आमदोष को दूर करने वाला; विषनाशक; पारे के जैसा वीर्यशाली; कृमिनाशक है ।

पांचवां प्रकरण

अभ्रक

पर्य्याय-गगन, अभ्र, व्योम, वज्र, गिरीज, बहुपत्रभू, आकाश, अम्बर, मेघ ।

अभ्रक वर्गीकरण भेद से चार प्रकार का है । यथा—श्वेत (ब्राह्मण), अरुण (क्षत्रिय), पीत (वैश्य) और श्याम (शूद्र) । इनमें श्वेत अभ्रक, रजतकार्य में, अरुण-रसायनकार्य में, पीला-स्वर्णकर्म में और काला-रोग निवारण में बरता जाता है ।

इनमें कृष्णाभ्रक—पिनाक, दर्दुर, नाग और वज्रभेद से चार प्रकार का है। पिनाक अभ्रक आग में डालने से परत उतरते हैं। दर्दुर अभ्रक आग में रखने से मेंढक की भाँति कूदता-उछलता है। नाग अभ्रक आग में रखने से साँप की भाँति फूत्कार करता है। वज्र अभ्रक वज्र की भाँति स्थिर रहता है। यह प्रशस्त है।

उत्तम अभ्रक—जो अभ्रक वज्र के समान कठोर, अंजन के समान काला, भार में वजनदार, आग में कोई शब्द न करे, न उड़े, उत्तम खान से निकाला हो, वह अभ्रक उत्तम है।

अभ्रक को पुरुष के बराबर गहरा खोदकर खान में से निकालना चाहिये। क्योंकि ऊपर के अभ्रक का तेज सूर्य, वर्षा आदि से क्षीण हो जाता है। इसी से कहा है कि—

अभ्रं गृहीतं खनितो भिषग्भिः संखानयित्वा पुरुषप्रमाणम्।
तद्भारवत्संस्त्रफलप्रदं स्याद् गुणाधिकं स्वल्पगुणं ततोऽन्यत्॥

धान्याभ्रक—धान्य के योग से शुद्ध अभ्रक को सूक्ष्म करने का नाम धान्याभ्रक है। इसके लिये पहले अभ्रक का शोधन करना चाहिये। शोधन के लिये वज्राभ्रक को अग्नि में गरम करके सात-सात बार एक-एक वस्तु में-गाय के दूध में; त्रिफला क्वाथ में; कांजी में और गोमूत्र में बुझावे। अथवा बेर के क्वाथ में बुझावे। बुझाकर हाथ से रगड़े। हाथ से न रगड़े तो इस शुद्ध अभ्रक का चौथाई-तुष सहित शालि धान्य मिलाकर अभ्रक को एक कम्बल में (बोरी के टाट में भी) बाँध देवे। इस कम्बल की पोट को तीन दिन कांजी में पड़ा रहने देवे। फिर इसको हाथों से रगड़े; जिससे अभ्रक कम्बल में से छनकर पानी में आ जाय। कम्बल से निकला सूक्ष्म, रेती के समान अभ्रक धान्याभ्रक कहा जाता है।

अभ्रकभस्म—अभ्रकभस्म के कई विधान हैं। एक पुटी से लेकर हज़ार पुटी अभ्रक बनता है। परन्तु साधारणतः दस से चालीस पुट तक बनी अभ्रक भस्म बरती जाती है। इनमें पुट द्रव्यों के नाम नीचे दिये जाते हैं; इन से क्वाथ

करके पुट देना चाहिये। पुट के साथ मर्दन जितना अधिक होगा, उतना ही गुण अधिक होगा। पुट की अधिकता से जहाँ अभ्रक में गुण बढ़ता है; वहाँ रङ्ग फीका पड़ता जाता है। अभ्रक में लाल रङ्ग लाने के लिये पोछे से-भद्रमुस्ता, वट का दूध, वटजटा, हल्दी का पानी, मञ्जीठ का क्वाथ इन से भावना देकर पुट देवे। इससे भस्म लालवर्ण हो जाती है।

दशपुटी अभ्रक—(१) धान्याभ्रक को कसौंदी के रससे दस पुट देवे। अथवा मोथे के रस से या चौलाई के रस से दश पुट देने पर भस्म हो जाती है।

(२) धान्याभ्रक को आक के दूध से या आक के मूल के रस से दिनभर रगड़कर-गोला बनाकर धूप में सुखाकर पुट देवे। इस प्रकार सात बार करे। इस गोले को आक के पत्तों से लपेट कर पुट देना चाहिये। फिर पिछले तीन पुट वटजटा के क्वाथ से देवे। इस प्रकार भस्म बन जाती है।

इकतालीस पुटी अभ्रक—धान्याभ्रक को-मुस्ता के क्वाथ से, पुनर्नवा, कसौंदी का रस, पान का रस और आक का दूध-इनमें प्रत्येक से तीन तीन पुट देवे। फिर वटजटा के क्वाथ से; मुसली के क्वाथ से; गोखरू के क्वाथ से; कौंच के रस से; केले के रस से; तालमखाने के रस से तीन तीन बार पुट प्रत्येक से देवे। फिर लोध के क्वाथ से घोटकर तीन पुट देवे। फिर दूध, दही, घी, शहद और स्वच्छ चीनी इन से एक एक पुट देवे। इस प्रकार इकतालीस पुट में उत्तम अभ्रक बनती है।

इसी प्रकार बनाई अभ्रक प्रायः विद्वान् वैद्य बरतते हैं। इसमें रस या क्वाथ पर्य्याप्त मिलाकर दिनभर रगड़ते हैं। रगड़ते-रगड़ते द्रव भाग सूख जाता है। जो वैद्य शोरे या टंकण का मेल करके अभ्रक को जल्दी निश्चन्द्र करते हैं, वे **"अरिलोहेन लोहस्य मारणं हीनवत्तरम्"**-यह भूल जाते हैं। सुहागा और शोरा दोनों तीक्ष्ण हैं। इससे अभ्रक में तीक्ष्णता आयगी। क्षय में तो मृदु एवं मधुर अभ्रक चाहिये। इसी लिये पीछे से दूध, घी, शहद, चीनी का पुट शास्त्र में दिलाया है। फार्मेसी वाले तो सस्ती बेचना चाहते हैं। हां; बकरी के रक्त की भावना पीछे से देना अभ्रक में गुणवृद्धि करता है।

उत्तम अभ्रकभस्म—चन्द्रिका रहित, अरुण वर्ण और अति सूक्ष्म भस्म उत्तम भस्म है। चन्द्रिका वाली भस्म रोग कारक होती है।

गुण—मधुर, शीतल, आयुवर्धक, धातुवर्धक, त्रिदोषनाशक, व्रण-प्रमेह-कुष्ठ-प्लीहा को नष्ट करती है। वयःस्थापक, वाजीकरण, रोगनाशक (रसायन) है।

अभ्रक का सत्वपातन और अमृतीकरण भी होता है; परन्तु व्यवहार कम है।

हरताल श्वेत

इसको गोदन्ती हरताल भी कहते हैं। हरताल इसे क्यों कहा गया यह मुझे पता नहीं। परन्तु गोदन्ती विशेषण महत्त्व का है। इस हरताल का स्फटिक गाय के दाँत के समान होता है। अर्थात् जड़ में मोटा और आगे से नोकदार। इस को आप तोड़ें तो यह फिर इसी रूप में [गाय की दांत के आकार में ही] टूटेगा। इस प्रकार का पत्थर मुझे जामनगर में पर्य्याप्त रेती में मिला है। इस पत्थर का नाम गाय के दांत की समानता से गोदन्ती दिया गया होगा-यह मेरी मान्यता है।

भस्म—इस को कूट कर घीक्वार में या कांजी से रगड़ करके पुट देने पर उत्तम भस्म बन जाती है। यदि एक दो पुट में नरम-मुलायम भस्म न बने तो आगे भी घीक्वार का पुट देना चाहिये।

गुण—पूज्य श्रीमहाराज यादवजी वैद्यराज शिरदर्द में इसे बहुत उपयोगी मानते हैं। दूसरे ज्वर में इस को फिटकरी के साथ या स्वतन्त्र बरतते हैं। मैंने इसका उपयोग कम किया है।

छठा प्रकरण

हरताल

पर्य्याय—हरताल, शैलूषभूषण (नट लोग इससे शरीर की भूषा करते हैं), रोमहरण, तालक, पीत, आल।

हरताल दो प्रकार की है, एक पत्रताल-जिस के पतरे उतरते हैं, दूसरी पिण्ड हरताल। इन में पत्र हरताल श्रेष्ठ है।

शोधन—(१) हरताल को चूर्ण करके कुष्माण्ड के स्वरस में फिर चूने के पानी में दोलायंत्र से एक प्रहर तक स्वेदन देवे। पीछे तिल तैल में दोलायंत्र से स्वेद देवे। (२) हरताल को काँजी में दोलायंत्र से स्वेद देवे। फिर कुष्माण्ड रस में, फिर त्रिफला जल में स्वेदन करे। साधरणतः चूने के पानी और कुष्माण्ड रस में ही स्वेद देते हैं।

हरताल भस्म—हरताल को शुद्ध करके पुनर्नवा के रस से मर्दन करके गोला बना लेवे। इस गोले को सुखा लेना चाहिये। फिर एक हांडी को पुनर्नवा-क्षार से या पीपल की सूक्ष्म भस्म से आधा भर कर उस में गड्ढा करके इस गोले को उसमें रख देवे। इस गोले पर फिर पुनर्नवाक्षार या पीपल की भस्म हांडी तक भर देनी चाहिये। इस हांडी को चुल्हे पर रख कर मृदु-मध्य-तीक्ष्ण अग्नि धीरे धीरे देवे। इस प्रकार पांच दिन आग देवे। इस प्रकार से हरतल मर जाती है, इसकी मात्रा एक रत्ती है।

रसमाणिक्य—वंशपत्र अर्थात् तवकी हरताल को पेठे के जल तथा खट्टा दही के जल से सात सात या तीन तीन भावनायें देवे। इस को चावल की कणिकाओं जैसा बना कर रख लें। फिर एक शराव पर अभ्रक के श्वेत पत्र बिछा कर उस पर हरताल का बारीक चूर्ण छिड़क देवे। इसके ऊपर फिर अभ्रकपत्र बिछा दे। फिर हरताल का चूर्ण बिछा दे। इस प्रकार करते हुए शराव को भर कर ऊपर से दूसरा शराव ढाँप देवे। दोनों शरावों की सन्धि को बेरी के कल्क से जोड़ कर सुखा देना चाहिये। इसको फिर चुल्हे पर रख कर मन्द मन्द आंच देवे। जब नीचे का भाग लाल अंगारे जैसा हो जाय, तब इसको आग देना बन्द कर देवे। इसको वहीं पर ठण्डा होने दें। स्वांगशीत होने पर इसको खोलने पर माणिक्य के रंग का लाल रंग होता है। इसकी मात्रा दो रत्ती है। **अनुपान**-मधु और घी। **उपयोग**—कुष्ट, भगन्दर, वातरक्त, व्रण, उपदंश, ज्वर में उपयोगी है। आयुर्वेद प्रकाश में-मिश्री और जीरा इसके अनुपान से देना कहा है।

पथ्य—सांठी के चावल और दूध; या दूध ही है।

गुण—कटु, स्निग्ध, कषाय, विसर्पनाशक; कुष्ठ, मृत्युज्वर नाशक है। ज्वर में रसमाणिक्य का उपयोग अच्छा रहता है। विशेष कर पुराने लीन ज्वरों में।

मनःशिला

पर्य्याय—मनःशिला, शिला, नैपाली, शिलाह्वा, मनोह्वा, कुनटी ।

शोधन—मैनसिल का शोधन करने के लिये इसको कूट कर आर्द्रक के रस से और नीम्बू के रस से एक प्रहर तक रगड़ने पर शुद्ध हो जाता है । अथवा बकरी के मूत्र में दोलायंत्र से पकाये । अथवा चूने के पानी में तीन दिन पड़ी रहने से (चूर्ण करके)-मैनसिल शुद्ध हो जाता है ।

गुण—कटु, स्निग्ध, तिक्त, कफनाशक, कास, श्वास हर (धूम योग में) है । चरक में श्वास के लिये धूम वर्तियों में मैनसिल का उपयोग है । यथा—

(१) हरिद्रां पत्रमैरण्डमूलं लाक्षां मनःशिलाम् । च. चि १७।७७

खर्पर

खर्पर तुत्थ का भेद है, न कि यशद का । यथा—

(१)"तुत्थस्यैव भवेद् भेदः खर्परे तद्गुणं च तत् ॥"

(२)रसकं तुत्थभेदः स्यात् खर्परे चापि तत्स्मृतम् ।
ये गुणास्तुत्थके प्रोक्तास्ते गुणा रसके स्मृताः ॥

रसक और खर्पर पर्य्याय हैं, ये तुत्थ के भेद हैं । जो गुण तुत्थ में हैं, वे खर्पर में भी हैं । इस लिये जस्ता का समास खर्पर का मानना भूल है । रसरत्न-समुच्चय में भी **तुत्थखर्परम्** – यही पाठ है । स्वर्ण वसन्त मालती में तुत्थ (ताम्र का अंश) ही उत्तम है, विषनाशकहोने से । रसेन्द्र में भी खर्पर और तुत्थ एक दूसरे के पीछे क्रम से दिये हैं ।

शोधन—खर्पर को आग में गरम करके बिजौरे के रस में बुझावे, इस प्रकार सात बार करने से खर्पर शुद्ध हो जाता है । मनुष्य के मूत्र, घोड़े के मूत्र, तक्र या कांजी में-किसी एक में गरम करके खर्पर को बुझावें । इससे खर्पर शुद्ध हो जाता है ।

भस्म—खर्पर को पारे के साथ चूर्ण करके वालुकायंत्र में पकावे । इससे उत्तम लाल भस्म होती है ।

गुण—नेत्ररोगहर और क्षयहर है। क्षयरोग नाशक उत्तम है।

विचारणीय—ताम्र वमन करता है, खर्पर भी वमन करता है, यह मुख्य दोष दोनों में समान है। यथा—

अशुद्धः खर्परः कुर्याद् वान्ति भ्रान्ति विशेषतः।
तस्माच्छोध्यः प्रयत्नेन यावद् वान्तिविवर्जितः॥ आयुर्वेदप्रकाश

इस लिये खर्पर को तुत्थ का भेद मानकर ताम्र का योग मानना चाहिये, न कि यशद का। क्षय में ताम्र और स्वर्ण ये दो ही मुख्य हैं; न कि जस्त का उपयोग।

तुत्थ (नीला तूतिया)

पर्य्याय—शिखोग्रीव, मयूरक, वितुन्नक।

शोधन—(१) तुत्थ ताम्र का उपधातु होने से इसमें ताम्र के कुछ गुण (वान्ति, भ्रान्ति) रहते हैं। इसमें भारी वजनदार तुत्थ को बिल्ली और कबूतर की विष्ठा के बराबर लेकर इसमें दसवाँ भाग सुहागा मिला कर मृदु पुट देवे। फिर दही से और मधु से एक एक पुट देना चाहिये। (२) तूतिया दो भाग और गन्धक एक भाग लेकर मर्दन कर लघु पुट देवे। इस प्रकार जब इसके खाने से वान्ति आदि दोष न हों, तब इसको वरते। मात्रा $\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{2}$ रत्ती।

गुण—कटु, कषाय, लेखन, चक्षुष्य, कण्डू, क्रिमि, विषनाशक है। वमन कराता है।

विषाश्मकुष्ठकण्डूघ्नं खर्परे चापि तद्गुणम्।
वान्ति भ्रान्तिमशुद्धं तद् कुरुते, शोधितं शुभम्॥ आयुर्वेदप्रकाश

विमल-माक्षिक

विमल और माक्षिक एक ही वस्तु है। यथा—

माक्षिकस्यैव भेदान्तरं, प्रायशस्तत्रैव तापतीतीरसंनिधावुत्पद्यते। तापीजं माक्षिकं द्विविधमुक्तं, विमलामाक्षिकभेदात्। आद्या विमला सा तु त्रिविधा सुवर्णविमला, कांस्यविमला, रजतविमला चेति। तत्र स्वर्नविमला स्वर्णमाक्षिकभेदाः। आयुर्वेदप्रकाश

प्रायः स्वर्णमाक्षिक का व्यवहार होता है।

शोधन—माक्षिक तीन भाग; सेंधानमक एक भाग इनको मिलाकर कढ़ाई पर रक्खे। इस पर बिजौरे या म्नीबू का रस इतना डाले कि सारा चूर्ण डूब जाय। फिर अग्नि जलाकर गरम करे और कलछी से चलाता रहे। जब कढ़ाई लाल हो जाय और चूर्ण भी लाल हो जाय तब उतार ले। यही इसका शोधन है। इसी अवस्था में व्यवहार होता है, और हो सकता है।

कुछ लोग भस्म बनाने के लिये इसमें चौथाई गन्धक मिलाकर एरण्ड तैल से रगड़ कर टिकिया बनाकर शरावसम्पुट में गजपुट की आंच देते हैं। इससे भस्म लाल होती है। परन्तु व्यवहार दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं। थोड़ी आँच पर रंग काला आता है।

गुण—मधुर, तिक्त; प्रमेह, अर्श, कृमि, कुष्ठनाशक, बलकारक पाण्डु में उपयोगी है। मात्रा $\frac{1}{2}$ से २ रत्ती। स्वर्णमाक्षिक में स्वर्ण की चमक होने पर दूसरे पदार्थों का अंश होने से भी यह स्वर्ण से गुणों में भिन्न है।

रजतमाक्षिक, कांस्यमाक्षिक भी इसी प्रकार शुद्ध किये जाते हैं।

कासीस

पर्याय—कासीस, धातुकासीस, पुष्पकासीस हैं।

शोधन—हीरा कासीस एक बार भांगरे के रस में स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है।

गुण—श्वित्र, नेत्रपीडानाशक, अम्ल, उष्ण, तिक्त, वातकफनाशक; मूत्रकृच्छ्र, अश्मरीनाशक है। औपसर्गिक मेह (गोनोरिया) में इसके घोल से धोना उत्तम है। अन्तःप्रयोग में मात्रा $\frac{1}{2}$ से २ रत्ती है।

प्रकरण सातवाँ

अंजन

सुरमा यह भाषा का नाम है। यह आंखों में आँजने से अञ्जन है। इसके पांच भेद हैं—

१–स्रोतांजन, २–सौवीरांजन, ३–रसांजन, ४–नीलांजन, ५–पुष्पांजन। राजनिघण्टु में कुलत्थांजन भी कहा है। ये सब अंजन आंखों के लिये उत्तम हैं।

शोधन—सब अंजनों का शोधन—अंजन को चूर्ण करके जम्बीरी निम्बू के रस से भावना देकर धूप में सुखावे। अथवा भांगरे के स्वरस में दोलायंत्र से स्वेद देवें।

विचारणीय बात—पुष्पांजन को जस्त का फूला कहते हैं। औरतें बच्चों के आंख में आज भी भरती हैं। इसी से कहा है–"**पुष्पांजनरीतिकिट्टमिति केचिद् वदन्ति हि।**" यहां पर पीतल का किट्ट कहा है, परन्तु यह बहुत ही हल्का होता है। नजीबाबाद में मुसलमान कारीगर बहुत बड़ी मात्रा में बनाते हैं।

सुरमा रक्तपित्त एवं रक्तस्राव नाशक है। जैसा कि सुश्रुत में कहा है—

अंजनादिगणो ह्येष रक्तपित्तनिबर्हणः।
विषोपशमनं दाहं निहन्याद्भ्यन्तरं भृशम्॥

चरक में रक्त पित्त में अंजन का विधान भी किया है। यथा—

आटरूषकनिर्यूहे प्रियंगुं मृत्तिकाञ्जने। चरक. चि. अ. ४।६६

गांवों में आज भी कटने पर खून जाने से सुरमा बांध देते हैं। पशुओं के पैर आदि में कीड़े पड़ने पर पीसा सुरमा व्रण में भर कर पट्टी बांध देने से प्रातः या दूसरे दिन सब कृमि मर जाते हैं, सूजन उतरी होती है; रक्तबन्द होता है। यह प्रत्यक्ष विषय है। आज कल की मैटरिया मेडिका में ऐसा गुण इसमें नहीं बताती है, परन्तु भारत के देहातों में यह सस्ता औषध आज भी उन गरीबों का सहारा है। भले पाश्चात्य चिकित्सा न कहे।

पुष्पांजन का अर्थ जिंक आक्साईड (जैसा कि रसेन्द्र में किया है)

अशुद्ध है। आंख में जिंक आक्साईड बाज़ार का वैसे डाल ही नहीं सकते, जैसे जस्ते का फूला-देशी बना भरते हैं और न यह उसके समान हल्का है। इसी प्रकार नीलांजन का अर्थ Antimany करना उत्तम नहीं। एण्टीमनी कालाज़ार में भले उपयोगी होगी, परन्तु अंजन का उपयोग ज्वर में कहीं भी अन्तःरूप में प्राचीन रसशास्त्र में नहीं है। यद्यपि यह विष नाशक है, परन्तु बाह्य उपचार में ही है। ज्वर में अंजन का उपयोग मेरे देखने में नहीं आया।

सौवीरांजन—सौवीर देश में-काबुल की तरफ़ अभी तक अंजन करने की बहुत प्रथा है। इसी प्रकार स्रोतोंजन-भी स्रोत (सिन्धु) से उत्पन्न अंजन। डेरा इस्माइलखाँ, के लोग आज तक आंखों में सुरमा जरूर आंजते हैं। वहां अधिक होता है, या वहां के लोग इसे अधिक बरतते हैं। सुरमे का शोधन-अष्टांग संग्रह में विस्तार से दिया है। इसके लिये उसे देखना ही चाहिये।

कुलित्थांजन का **चाकसू** कहते हैं। यूनानी लोग इसको आज भी आंख में आंजने को देते हैं। जिस प्रकार अंजन के लगाने से आँखों से पानी निकलता है; वैसे ही इसके लगाने से पानी निकलने लगता है। यह आंखों में बहुत काटता है। दुखती आंखों में एक बार भर देने से असह्य पीड़ा कुछ समय के लिये होती है, परन्तु पानी निकलने से शान्ति मिलती है, ठण्ड पहुंचती है।

टंकण-सुहागा, फिटकरी

पर्याय—सौभाग्य, टङ्कणक्षार, धातुद्रावक, है। धातुद्रावक-सोना, चांदी धातुओं को जल्दी द्रव करता है। सौभाग्य-रजःप्रवर्तक है।

शोधन—चूर्ण करके आग पर फुलाने से पानी जल जाने से शुद्ध हो जाता है। फिटकरी भी आग पर फुलाने से शुद्ध हो जाती है।

✓ टङ्कण द्रावक है, तो फिटकरी संकोचकारिणी है।

गेरू

गेरू—साधारण गेरू, पाषाण गेरू और स्वर्ण गेरू तीन प्रकार का है। इनमें स्वर्ण गेरू उत्तम है। जो गेरू नरम-कोमल; परतदार, भारी होता है, वह उत्तम है।

शोधन—थोड़े से घी में भूनने से गेरू शुद्ध हो जाता है।

शिलाजीत

शोधन—शिलाजीत को गाय के दूध, त्रिफला का क्वाथ, भांगरे का स्वरस इनसे लोहे के पात्र में रखकर एक एक दिन तक रक्खे। फिर ऊपर से पानी उतार कर सुखा लेना चाहिये। जिससे पत्थर-कंकरी, नीचे रह जाय। कोई गोमूत्र में भी शोधन करते हैं। शिलाजीत को पानी या क्वाथ में घोलते जाना चाहिये। मिट्टी, पत्थर नीचे बैठने देना चाहिये।

प्रकरण-आठवाँ

धातुवर्ग

"धातुर्लोहे लुह इति मतः सोऽपि कर्षार्थवाची"

लोह शब्द लोहे में तथा दूसरी धातुओं में व्यवहृत होता है।

धातुओं के भेद—शुद्ध धातु-सोना चांदी, तांबा, लोह = ४-। पूतिधातु नाग और वंग। मिश्रधातु-कांसी, पीतल, भर्त्त।

सब धातुओं का शोधन—स्वर्ण, रौप्य, ताम्र और लोह के पतले पत्र—जो कांटे से बीधे जा सकें; ऐसे पतले बना कर आग में लाल गरम करके क्रमशः तैल, तक्र, गोमूत्र, कांजी और कुलत्थी के कषाय इनमें से एक एक में सात बार बुझायें। सीसा और वंग चूंकि द्रव में डालने पर उछलते हैं, इसलिये द्रवपात्र पर भारी वस्तु रख कर उस भारी वस्तु में बने छेद में से इनको डाले, जिससे ऊपर को न उछले।

सब धातुओं का मारण—मैनसिला, गन्धक और आक का दूध इनसे रगड़ कर बारह पुट देने पर सब धातु मर जाते हैं। इनकी भस्म हो जाती है।

सुवर्ण

सुवर्ण के पर्याय—कनक, हिरण्य, हेम, हाटक, सुवर्ण, तपनीय, कलधौत, कांचन, भर्म, चामीकर, शातकुंम्भ।

उत्तम सुवर्ण—जलाने पर आग में डालने पर लालवर्ण, काटने पर श्वेत,

कसौटी पर केसर की झलक, चांदी और तांबे से रहित, स्निग्ध, नरम भारी हो; वह उत्तम स्वर्ण है। जो स्वर्ण श्वेत, कठिन, रूक्ष, कसौटी पर श्वेत, जलाने पर श्वेत वर्ण हो, वह त्याज्य है।

शोधन—स्वर्णपत्र पर कावीस (जिस मिट्टीसे कुम्हार वर्तनों पर रङ्ग चढ़ाते हैं) मल कर अग्नि पर गरम करने से स्वर्ण का रङ्ग निखरता है। यह मिट्टी सुनारों के पास मिलती है। लाल रङ्ग की होती है।

(१) पांचो मिट्टी (वल्मीकमृत्तिका, घर का धुंवासा, गेरू, नमक, ईंट का चूरा) और गलगल का रस इनसे स्वर्ण पत्रों को पांच दिन रगड़ कर भस्म और नमक का लेप करके पुट देवे। (२) अथवा शुद्ध स्वर्ण को (कुन्दन को) अग्नि में पिघला कर कचनार के क्वाथ में बुझावे। इस प्रकार तीन वार करने से सुवर्ण शुद्ध हो जाता है।

मारण—(१) स्वर्ण से दुगुना पारद लेकर इसको कांजी या गलगल के रस से रगड़ कर गोला बना लेवे। इस गोले के बराबर गन्धक (शुद्ध) लेकर आधा गन्धक नीचे और आधा ऊपर रखकर शराव सम्पुट में बन्द करे शराव सम्पुट को वस्त्रके साथ मिलाई मिट्टी से लपेट कर सुखाकर तीस अरण्य उपलों से पुट देवे। इस प्रकार चौदह पुट देवे। इस प्रकार से निरुत्थ भस्म होती है। इसमें गन्धक बार बार देनी चाहिये। कई आचार्य स्वर्ण के बराबर पारद लेकर जम्बीरी के रस से मर्दन करके पूर्व की भांति पुट देते हैं।

(२) स्वर्ण को पिघला कर इसमें पारा स्वर्ण के बराबर और स्वर्ण का सोलहवां भाग सीसा मिला कर जम्बीरी निम्बू से रगड़ कर गोला बनावे। इस गोले के ऊपर नीचे गन्धक रखकर शराव सम्पुट में तीस वनोपलों से आंच देवे। इस प्रकार सात बार करे।

(३) स्वर्ण के बराबर स्वर्णमाक्षिक, एवं सीसे का चूर्ण मिला कर आकके दूध में पीसकर स्वर्णपत्रों पर लेप करके पुट देने से स्वर्ण मृत हो जाता है।

(४) पारा और गन्धक समान भाग में लेकर कचनार के क्वाथ से घोंटकर कजली बनावे। इस कज्जली के बराबर कण्टकवेध्य स्वर्णपत्र लेकर उन पर

इसका लेप करे। फिर कचनार की छाल के चूर्ण से दो भूषायें (सम्पुट) बनावे। इस सम्पुट में स्वर्ण के गोले को रखकर इस सम्पुट को मिट्टी के सम्पुट में रखकर सन्धि बन्द करके, गज पुट देवे। इस प्रकार तीन पुट देने से उत्तम भस्म होती है। यह भस्म यक्ष्मा रोग, रक्तपित्त में बहुत उपयोगी है। क्योंकि कचनार स्वयं रक्तपित्त में उत्तम है। यथा—

कोविदारस्य पुष्पाणि, खदिरस्य प्रियंगूणां कोविदारस्य शाल्मलेः, पुष्पाणि, चरक चि० अ ४।

विचारणीय वस्तु—(१) जिस प्रकार अभ्रक को पीछे से बकरी के रक्त की भावना दी जाती है, जिससे कि उसमें क्षय नाशक गुण आ जाय; उसी प्रकार रक्तस्तम्भक गुण के लिये स्वर्ण को कचनार के क्वाथ की भावना देना उत्तम है। कोई टीकाकार स्वर्ण का नाग-सीसे से मारण करना दूषित बताते हैं। चूंकि सीसा विष है। अथवा इसको अरिलोह समझा है। परन्तु यह ठीक नहीं। सीसे में कुछ वस्तु ऐसी है, जिससे कि सुनार आजतक स्वर्ण का शोधन इसीसे करते हैं। सीसा सस्ता है, स्वर्णके साथ इसका मेल सरलता से होता है। भारत के स्वर्णकार आज भी स्वर्ण को साफ़ करने में इस सीसे को बरतते हैं। यह प्रथा भारत के सब देशों में है। इसी से यहां पर भी स्वर्ण से गोला बनाने का विधान है। रसेन्द्र में स्वयं कहा है—

"नागैःसुवर्णं रजतञ्च ताप्यैः, गन्धेन ताप्यं शिलया च नागम्।
तालेन वङ्गं त्रिविधं च लोहं, नारीपयो हन्ति च हिंगुलेन"॥

रही विष की बात, वह भी दूषित है। सीस की भस्म का उपयोग अन्तविद्रधि के लिये आयुर्वेद में है; भले ही पाश्चात्य चिकित्सा में न हो। सीसे और स्वर्ण का मिश्रित योग रसतरंगिणीकार ने दिया है; वैसे मैंने इस योग की प्रशंसा अपने मित्र श्रीजयदेव विद्यालंकार से कई बार सुनी भी थी। वह योग यह है—

शिलया निहतं सीसं तोलकद्वयसंमितम्।
कान्तापाषाणभस्मितं सीसकं प्रमितं शुभम्॥

निश्चन्द्रिकं सुवर्णं तु तथा यशदकारणम्।
गगनं रविलोहं च पृथक् तोलकसंमितम्॥
सर्वार्द्धं गन्धकं दत्त्वा पेषयेत्कन्यकाम्भसा।
त्रिधा वराहाख्यपुटे पुटयेद् भिषजां वरः॥
खल्वे संचूर्ण्य च ततः काचकुप्यां तु विन्यसेत्।

इस लिये अधकचरी कैमिस्ट्री के ज्ञान से ऐसी धारणा बनाना ठीक नहीं। भारत की संस्कृति को भारत की दृष्टि से देखना चाहिये। इस देश के विधान इसी देश में मिलेंगे, और उनमें अवश्य सत्य वस्तु निहित है। गतानुगतिक नही बनना, खासकर भारत के सब एम. एस. सी. इस विषय में प्रामाणिक नहीं है, यह सदा स्मरण रखना चाहिये। इनका ज्ञान परीक्षा पास करके डिग्री लेने तक; और फिर कालेज में पढाने तक ही होता है।

गुण—सुवर्ण-शीतल, वृष्य, बल्य, रसायन, गुरु, मधुर रस, कुछ तिक्त; मधुर पाक, मेधा स्मृति बुद्धिप्रद, हृद्य, आयुस्कर, **विषद्वय (स्थावर और जंगम), क्षय, उन्माद, सन्निपातज्वर नाशक** है।

अनुपान—स्वर्ण, मधु, आंवला इन तीन को खाने पर मरने वाला रोगी भी बच जाता है। बुद्धिवृद्धि के लिये वच से; कान्ति की इच्छा से (ओजवृद्धि के लिये) कमल के केसर से; वयःस्थापक गुण के लिये शंखपुष्पी से और संतान की इच्छा हो तो विदारी से खावे।

मात्रा—स्वर्ण को जौ की मात्रा से आरम्भ करके-जौ-जौ बढ़ाकर आठ रत्ती तक देवे। परन्तु आजकल $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{8}$ रत्ती तक देते हैं कोई कोई $\frac{1}{8}$ रत्ती ही देते हैं।

रजत-चांदी

उत्तम रजत—वजन में भारी, स्निग्ध, कोमल, काटने पर श्वेत, हथौड़े की चोट को सह सके (टूट कर न गिरे), वर्ण-चमकदार चन्द्रमा के समान स्वच्छ, हो वह उत्तम है।

शोधन—तैल, तक्र आदि से शोधित चांदी के वरक-पत्तर बनाकर आग

में तपावे। इनको अगस्तपत्र के स्वरस में बुझावे। इस प्रकार तीन बार करे। यह विधि वैद्यसमाज की है।

स्वर्णकार लोग एक कड़ाही लेते हैं, या एक तौले में राख जमाकर उसमें लोहे का पात्र रखकर उसमें या राख में ही गड्ढा बनाकर उसमें शोधनीय चांदी डालते हैं, और चांदी के बराबर इसमी सीसा मिलाते हैं। दोनों को तीव्र आंच से पिघलाते हैं, बीच, बीच में सुहागा डालते हैं। इसमें सब सीसा जब तक नष्ट नहीं होता, धौंकनी से हवा देते हैं। सीसा के राख हो जाने पर शुद्ध चांदी मिल जाती है। इस तरह की चांदी को सोनी लोग गद्दी कहते हैं।

मारण—(१)चांदी के पत्र चार भाग; हरताल शोधित एक भाग लेकर; हरताल को जम्बीरी निम्बू के रस से रगड़ कर चांदी के पत्रों पर लेप कर देवे। इसके बराबर गन्धक लेकर गन्धक को इस चांदी के ऊपर नीचे रखकर शराव सम्पुटों में रखकर गजपुट की आंच देवे। (कोई आचार्य तीस वनोपलों की या पचीस उपलों की आंच देते हैं)। इस प्रकार तीन बार करे। गन्धक प्रत्येक बार देनी चाहिये। हरताल यदि दी जाय तो उत्तम है।

(२) पारा और गन्धक पृथक् पृथक् चांदी के बराबर लेकर पारा और गन्धक की कज्जली कर लेवे। इसको घीक्वार से पतला बना कर चांदी के पतरों पर लपेट कर इन पतरों को शरावसम्पुट में रख कर तीस वनोपलों से पुट देवे। इस प्रकार दो पुटों से भस्म हो जाती है।

(३) चांदी के वरकों में दो गुना हिंगुल मिला कर खूब रगड़े। इस को डमरू यंत्र में रखकर ऊर्ध्वपातनयंत्र से उठावे। इस में पारा ऊपर मिलेगा, और भस्म नीचे होगी। परन्तु यह क्रिया कई वार करनी होती है। इस में व्यय अधिक है।

(४) हरताल, गन्धक, चांदी के पत्र इनको निम्बू के रस से रगड़ कर तीन पुट देवे। इससे उत्तम भस्म होती है।

विचारणीय—सोना, चांदी आदि कोमल धातुओं में पहले तीक्ष्ण आंच पुट में देवे, फिर शनैः शनैः कम करते जाना चाहिये। इसी लिये इनको तीस वनोपलोंसे आंच देने का विधान है। लोहा, ताम्बा, अभ्रक, सीसा (खासकर) इनको पहले

हल्की और पीछे से तीव्र आंच गजपुट में देनी चाहिये; इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है। सोना या चांदी तेज आंच पर नष्ट हो जाते हैं और सीसक पहले ही तेज आंच पर फिर जम कर ठोस हो जाता है।

गुण—रजत-शीतल, कषाय, अम्ल रस, मधुर पाक, मधुर रस, वयःस्थापक, स्निग्ध, प्रमेह आदि रोग नाशक है। इसकी गोली मुख में रखने से प्यास एवं शोषनाशक होती है। यही कारण है कि पान के ऊपर चांदी का तवक (वरक) लगाते हैं। वातरोगों में रजत का उपयोग उत्तम है। मात्रा $\frac{1}{8}$ से १ रत्ती है।

ताम्र

पर्याय—ताम्र, औदुम्बर, शुल्व, उदुम्बर, रविप्रिय, सूर्य के नाम, म्लेच्छ।

ग्राह्यता में—बिजली के तारों में जो तार आते हैं; या स्वर्णकार जो शुद्ध ताम्र सोने में मिलाते हैं (यह ताम्र बिलायत से छोटे कणों में आता है) वह उत्तम है। जपा फूल के बराबर लाल वर्ण, स्निग्ध, मृदु, हथौड़े की चोट सहने वाला, ताम्र उत्तम है।

शोधन—विष को विष नहीं समझना; ताम्र को असली विष समझना चाहिये। विष में तो मारने का अकेला ही गुण है; परन्तु ताम्र में तो—भ्रम, मूर्छा, विदाह, स्वेद, क्लेद, वान्ति, अरुचि, चित्तसंताप ये आठ दोष विष के समान है। इसलिये—

(१) तैल, तक्र आदि में शुद्ध ताम्रपत्र को गोमूत्र में तीव्र अग्नि से एक पहर (चार घंटे) पकावे। फिर इसको खटाई मिले क्षार से इतने तक धोये कि नीला पानी न आवे। इक्कीस बार भी धोने का विधान है। कोई कोई गोमूत्र में नमक भी मिला देते हैं।

(२) सैंधा नमक को आक के दूध में पीस कर ताम्रपत्र पर (ये ताम्रपत्र मुकुट आदि बनाने के काम आते हैं, इसको गरम कर लेना चाहिये) लपेट कर, इनको आग में गरम करके, निर्गुण्डी के स्वरस में बुझावे। इस प्रकार सात बार करे।

मारण—ताम्र से चतुर्थांश पारा और ताम्र के बराबर गन्धक लेकर दोनों की कज्जली कुमारी के रस से बनावे। इस कज्जली को ताम्रपत्रों पर लेप करे। लेप को धूप में सुखा ले। इन पत्रों को बची कज्जली में रखकर हाँडी में रख देवे। हाँडी को नमक से, राख से भरकर ढांप देवे। फिर दोनों की सन्धि बन्द करके अग्नि पर रखकर तीव्र आंच देवे। आँच साधारणतः चार प्रहर देनी चाहिये। ठण्डा होने पर इसको निकाल ले।

अमृतीकरण—(१) इस भस्म को नीम्बू के रस से पीसकर सूरण (जीमीकन्द-तीक्ष्ण काटने वाला) में भरकर इस सूरणकन्द पर मिट्टी का लेप करे। फिर इसका गोमूत्र, गोवर, गोदूध, गोदही और गोघृत इनमें पाक करे। कुछ वैद्य नमक के स्थान में हाँडी में सूरणकन्द का कल्क ही भर देते हैं। इससे पीछे भस्म करने की आवश्यकता नहीं होती।

(२) सैन्धव एक भाग लेकर जम्बीरी निम्बू के रस से पीसकर इसका लेप ताम्रपत्रों पर (नमक के बराबर) करे। फिर इसको हांडी में रखकर, हांडी को बालू से भर कर, हांडी का मुख बन्द करके भस्म होने तक पकावे। इसप्रकार तब तक करे, जब तक इसमें से वान्ति आदि दोष नष्ट न हो जाँय।

परीक्षा—ताम्रभस्म को दही में डाल कर चौबीस घण्टे रख देना चाहिये। यदि दही में नीला रंग आ जाय, तो भस्म अपूर्ण समझे। इसे फिर सूरण में या पंचगव्य में पकाना चाहिये। शुद्ध भस्म का रंग मोर के गले के समान होता है। पीसने पर तुरन्त चूर्ण हो जाती है।

गुण—ताम्र-कषाय, मधुर, अम्ल, तिक्त है, विपाक में कटु पित्तनाशक, कफहर, रोपण, लघु, लेखन करता है। पाण्डु, उदर, अर्श, गर, कुष्ठ, कास, श्वास क्षयनाशक, शूलनाशक है। अम्लपित्तनाशक है।

विचारभेद—आयुर्वेदप्रकाश में और अष्टांग संग्रह में ताम्र को शीत कहा है; परन्तु रसेन्द्र में इसको ऊष्ण कहा है। कुछ आचार्य इसको बृंहण मानते हैं; दूसरे थोड़ा बृंहण कहते हैं। अम्लपित्त, क्षय, श्वास, पाण्डु में अति उत्तम है।

पित्तल और कांसी

ये दोनों मिश्र धातु हैं। पीतल ताम्र और जस्ते से बनाई जाती है। कांसी

ताम्बा और रांगे से बनाते हैं। इनके जारण मारण ताम्र की भांति हैं। गुण भी ताम्र की भांति है। घी को कांसीपात्र में नहीं रखना चाहिये। कांसी भस्म का उपयोग नित्यानन्द रस में है। यह श्लीपद में व्यवहृत होता है।

शोधन—पीतल को पतले पत्रों में बनाकर हल्दी के चूर्ण के साथ लेप करके निर्गुण्डी के जल में बुझावे। कासी के पतले पत्र बना कर अग्नि में तपावे और गोमूत्र में बुझावे। इस प्रकार सात बार करे।

भस्म—पीतल या कांसी के पत्र लेकर इनके बराबर पारा और गन्धक (पृथक् पृथक्) लेकर कज्जली करे। इस कज्जली को घीकार के रस से पीस कर पत्रों पर लेप करे। इन पत्रों को सूखा कर अग्नि में सम्पुट से पुट देवे। इस प्रकार तीन बार पुट देने पर उत्तम भस्म हो जाती है। **"म्रियते गन्धतालाभ्यां निरुत्थं पंचभिः पुटैः।"**

यशद (जस्ता)

रसतरंगिणीकार ने इसको **'खर्परजम्'** लिखा है। परन्तु खर्पर तुत्थ-(ताम्र का) भेद है। आयुर्वेदप्रकाश में स्पष्ट कहा है—**"जशदं रंगसदृशं रीति हेतुश्च तन्मतम्।"** जस्ता और खर्पर में कोई भी समानता प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। (देखिये खर्पर प्रकरण)।

शोधन—यशद को पिघला कर निर्गुण्डीमूल के क्वाथ में सात बार बुझावे। अथवा इक्कीस बार गाय के दूध में बुझावे।

मारण—कड़ाही में यशद को रख कर पिघलावे। इसमें अपामार्ग का क्षार थोड़ा थोड़ा डाल कर लोहे की कलछी से चलाता जाय। जब सब भस्म हो जाय, तब इसको एकत्रित करके शराव से ढांप कर आंच देवे। आंच इतनी देर देवे कि जस्ता जल कर लाल अंगारा हो जाय। ठण्डा होने पर इसको ले ले।

गुण—यशद शीतल; कटुरस; **अक्षिरोगनाशक**, बल-वीर्य करनेवाला है। **"चक्षुष्यं परम्"**—आयुर्वेद प्रकाश। इसका दूसरा मुख्य गुण निशास्वेदनाशक है। इसलिये क्षय में उपयोगी है। कम्पवात को नष्ट करता है। **मात्रा—½ रत्ती से एक रत्ती है।**

उपयोग—प्रवाल भस्म, यशद भस्म को यक्ष्मा में मधु के साथ रात्रिस्वेद में देना उत्तम है। अतिशय रजःस्राव में अशोक की छाल से देवे। यह लम्बे समय तक देना चाहिये।

वंग-रांगा

पर्याय—वंग, रंग, त्रपु, पिच्चट।

ग्राह्य वंग—वंग दो प्रकार की है, एक खुरक और दूसरी मिश्रक। इसमें खुरक वंग उत्तम है। बाज़ार में दो प्रकार की वंग साधारणतः मिलती है। एक तो वह वंग है जिससे बर्त्तनों पर कलई करवाई जाती है; यह श्वेत, पतली, नरम होती है। प्रायः भस्म में इसी का व्यवहार है। दूसरी वंग एक मोटी, भारी, डली के रूप में पीनांग से सील के रूप में (चांदी की सिल्ली की तरह) आती है। इसको चांदी की तरह कटाया जाता है। इसमें उतनी कान्ति, कोमलता नहीं होती।

शोधन—पहले प्रकार की वंग को लेकर कलछी में पिघलावे। फिर सावधानी से चूने के जल में बुझावे। इस प्रकार दो या तीन बार (कोई सात बार कहते हैं) करने से वंग शुद्ध हो जाती है। अथवा तैल, तक्र आदि वस्तुओं में वंग को बुझावे।

मारण—चूल्हे पर कड़ाही रख कर उसमें वंग को पिघलावें। वंग के पिघलने पर वंग से चौथाई अपामार्ग की राख इसमें धीरे धीरे मिलाता जाय और साथ ही लोहे की कलछी से चलाता जाय। जब तक रांगे की सारी भस्म न हो जाय तब तक इसमें अपामार्ग का चूर्ण मिलावे, कलछी से रगड़े, आग जलावे। फिर सारी भस्म को एकत्रित करके शराव से ढांप कर तीव्र अग्नि देवे। जिससे कि भस्म लाल अंगारे के रंग की हो जाय। अब इसको आगे भस्म के लिये बरते।

इसमें कोई कोई पहले हल्दी का चूर्ण, फिर अजवायन, फिर जीरा, फिर इमली की छाल का चूर्ण, अन्त में पीपल की छाल का चूर्ण, अपामार्ग के चूर्ण के स्थान में या इसके साथ मिलाते हैं। हिलाने में भी लोहे की कलछी से या ढाक के दण्डे से इसको हिलाते रहें। आयुर्वेदप्रकाश में सीरा मिलाने का भी विधान है।

अब इस भस्म में हरताल मिलावें। हरताल का परिमाण वंगभस्म के बराबर या चौथाई अथवा अष्टमांश होना चाहिये। इसको नीम्बू के रस से या घीकुँवार के रस से एक दिन या दो दिन रगड़ कर टिकड़ी बनाकर धूप में सुखावे। फिर इसको सम्पुट में रखकर पुट देवे। इस प्रकार सात पुट देवे।

कोई कोई पीपल की छाल के बीच में रख पुनः सम्पुट में रख कर पुट देते हैं। परन्तु इसकी जरूरत वहीं है, जहाँ तीव्र आँच लगने का भय रहता है। प्रथम पुट में तीव्र आँच मिलने पर वंगभस्म फिर वंग के असली रूप में आ जाती है। इसलिये पहले लघु पुट देवे। फिर क्रमशः बढ़ावे। नहीं तो पीपल की राख में रखकर पुट देवे। यह इसमें चातुर्य है।

दूसरी विधि—वंग को पूर्व की भाँति पिघला कर इसमें ईमली और पीपल की छाल का चूर्ण वंग से चौथाई मिलाकर लोहे की कलछी से चलावे। इस भस्म में हरताल मिलाकर नीम्बू के रस से रगड़ कर पुट देवे। हरताल वङ्ग से दसवां भाग मिलावे। इस प्रकार दस पुट देने से भस्म होती है।

विचार—कुछ वैद्य पारे के साथ वङ्ग की पिष्टी बनाकर वङ्ग की भस्म बनाते हैं। अम्लता को नष्ट करने के लिये पानी से भली प्रकार धोना चाहिये।

स्वर्ण वङ्ग—एक तोला वंग को लेकर कलछी में पिघलावे। पिघलने पर इसमें एक तोला पारा मिला कर पिष्टी बनावे। इसको तुरन्त खरल में डालकर पीस ले। इसको नीम्बू के रस से खूब रगड़े। फिर इसमें सैंधा नमक मिला कर पानी से बार बार धोयें। जब काला रङ्ग आना बन्द हो जाय तब इसमें पारद के बराबर एक तोला गन्धक और एक तोला नवसादर मिला कर पीस लें। बारीक कज्जली बनने पर इसको कपड़ मिट्टी की हुई शीशी में रखकर वालुका यंत्र में पकावे।

दूसरा प्रकार—वंग-१२ भाग; पारद छैः भाग; गन्धक आठ भाग; नौसादर छैः भाग, इस अनुपात से भी स्वर्ण वंग बनाते हैं। इसमें रंग साफ़ आता है। यह अनुपात रसतरंगिणीकार के गुरू का है।

मात्रा—एक रत्ती से दो रत्ती तक है।

गुण—सम्पूर्ण मेहों को नष्ट करने वाला। (घोड़े को तंग और मनुष्य को वंग

चाहिये, तभी कसा रहता है) है। कास, श्वास, क्षय नाशक; बल्य, वृष्य, धातु (शुक्र) स्थौल्यकारक है। गले में रुकने वाले कफ को (जिसमें रोगी को खंकार कर बार-बार कफ निकालना पड़ता है) सुगमता से निकालता है। मेध्य है; मेदोहर, वर्ण्य है। **निशास्वेद** को नष्ट करता है। शुक्र की तरलता में, शुक्रच्युति के शीघ्र होने पर यह उत्तम है। स्वर्ण वंग के गुण भी इसी भाँति हैं।

नाग-सीसा

पर्य्याय—नाग, वध्र, सांप पर्य्याय भुजंग आदि हैं।

शोधन—वंग की भाँति चूने के पानी में, या निर्गुण्डी मूल के क्वाथ में, गरम कर पिघलावे सीसे को बुझाना चाहिये।

मारण—सीसक को कड़ाही में डालकर वंग की तरह पिघला कर इसमें पीपल की छाल का चूर्ण मिला कर लोहे की कलछी से चलाता जाय। भस्म हो जाने पर इसमें भस्म के बराबर मैनसिल मिलाकर कांजी से पीसकर गजपुट देवे। इसको फिर निकाल कर मैनसिल और कांजी से पूर्व की भांति पुट देवे। इस प्रकार साठ पुट देवे।

दूसरी विधि—पूर्व की भांति या वंग की भांति कड़ाही में सीसकभस्म करके, इसमें सीसक के बराबर शुद्ध मैनसिल मिला कर वासारस से मल कर गज-पुट देवे। इस प्रकार तीन पुटों में भस्म होती है।

तीसरी विधि—सीसक को पिघला कर इसमें चौथाई पारद मिला कर जल्दी से पिट्ठी बना ले। इसको पीसकर कांजी से या निम्बू के रस से रगड़ कर, पानी से भली प्रकार धोवे। फिर इसका चूर्ण बनाकर सीसे से दुगुनी गन्धक मिला कर दो दिन रगड़ कर उत्तम कज्जली बना ले। इस कज्जली को शराव-सम्पुट में रख कर लघु पुट देवे। इस प्रकार से काली भस्म बनती है।

गुण—वायु-पित्त-कफ के रोगों को नष्ट करता है। प्रमेहनाशक, उष्ण व्रण-नाशक है। श्वास में उत्तम है। मात्रा $\frac{1}{2}$ रत्ती से एक रत्ती तक है। सीसे से चांदी में रंग आता है।

लोह और चुम्बक

भेद—लोहा तीन प्रकारका साधारणतः मानते हैं। मुण्ड, तीक्ष्ण और कान्त। इनमें मुण्ड लोहे से कढ़ाही आदि पात्र बनते हैं। तीक्ष्ण लोहे से शस्त्र आदि बनते हैं। कान्त लोह उत्तम स्टील है। शास्त्र में कान्त लोहे की परीक्षा दी है कि–जिसके पात्र में रक्खे पानी पर तैल बिन्दु नहीं फैलता; हींग अपनी गन्ध जिसके पात्र में रखने से छोड़ देता है, नीम की कडुआहट जिस पात्र में नष्ट हो जाती है, और दूध उबालने पर भी जिस पात्रमें से भूमि पर नहीं गिरता, वह कान्त लोह है; ऐसा लोह अभी दृश्य नहीं। परन्तु आज (Stainles steel) स्टेनलैस स्टील प्राप्य है। इसमें जंग नहीं लगता, वस्तु रखने पर बिगड़ती नहीं। दही खट्टा नहीं होता। आज यह लोह प्राप्य है; जो आज से चालीस साल तक स्वप्न की बात थी। सम्भवतः कल यह भी इसीप्रकार का लोह मिल जाय क्योंकि–"**कालो ह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी**" समय अपरिमित है, और पृथ्वी विशाल पड़ी है। घबराने की बात नही, प्राचीन वाक्य को असत्य कहने का समय नहीं, प्रतीक्षा करिये।

मुण्ड से तीक्ष्ण लोह सौगुना अधिक गुणकारी है। तीक्ष्ण से कान्त लौह सौ गुना अधिक गुणकारी है।

शोधन—उत्तम तीक्ष्ण लोहे का चूरा कारखानों से या तलवार आदि किसी उत्तम लोहको घिसवा कर उसका चूरा प्राप्त करे। इस चूरे को एक से तीन सेर तक शोधन के लिये लेवे। अथवा चुम्बक की सहायता से रेतीमें से या कारखानों में से चूरा ले ले। इसको पानी से भली प्रकार धोकर मिट्टी निकाल दें।

इस चूर्ण को कलछी में लेकर लाल गरम करके त्रिफला क्वाथ में बुझावे। इसप्रकार सातबार करना चाहिये। इसके लिये त्रिफला १६ भाग, पानी एक सौ अट्ठाइस भाग लेकर क्वाथ करे। इस क्वाथ का चतुर्थांश शेष रहने पर उतार लेवे। इस क्वाथ में पाँचवां भाग लोह बुझावे। १६ तोला त्रिफला, १२८ तोला पानी लेकर क्वाथ करे। चौथाई शेष रहने पर इस क्वाथ में पांच तोला लोह शुद्ध करे।

दूसरी विधि—लोह को अग्नि में गरम कर के केले के रस में अथवा

त्रिफला कषाय में या गोमूत्र में लोहे को सात बार बुझावे इससे लोहा शुद्ध होता है।

मारण—लोहभस्म को पारद के बिना नहीं बनाना चाहिये।

(१) लोहे से बारहवां भाग सिंगरफ मिला कर घीकार के रस से अच्छी तरह खरल करके (दो याम तक) पुट देवे। इसप्रकार सात पुट देने में भस्म हो जाती है।

(२) लोहचूर्ण शुद्ध लेकर इसको तेंदु के कच्चे फलों से एक दिन रगड़े। फिर त्रिफला, भांगरा और कटेरी के रस से रगड़कर पृथक् पृथक् तीन तीन पुट देवे। इसमें पानी में तैरने वाली भस्म हो जाती है।

(३) लोहचूर्ण के बराबर हिंगुल मिलाकर निम्बूके रससे घोट कर पुट देवे। अगले पुटों में फिर हिंगुल न मिलावे। केवल निम्बूके पानी से घोटकर पुट देवे। इस प्रकार सात बार करे।

(४) लोहचूर्ण में चौथाई स्वर्णमाक्षिकभस्म मिलाकर निम्बू के रस से घोटकर पुट देवे। माक्षिकभस्म प्रत्येक पुट में देवे।

विचारणीय—लोह का उपयोग सब रोगों में प्रायः होता है। इसलिये लोहे को जैसा बनाना हो, जिस दोषको नष्ट करने के लिये बनाना हो, उस दोष नाशक गण की औषधियों से भावना देनी चाहिये। साधारणतः त्रिफला की भावना सब रोगों में काम दे सकती है। पाण्डु के लिये गोमूत्र या घीकार की भावना उत्तम है। रसायन या बाजीकरण के लिये लोह बनाना हो तो उसमें हिंगुल अवश्य मिलाना चाहिये। लोहभस्म का गुण उसके भावित द्रव्यों पर निर्भर करता है।

निरुत्थीकरण—लोहभस्म को, गाय का घी शुद्ध गन्धक में मिला कर घीकार के रस में मर्दन करके सुखा ले। इसको चूर्ण करके गजपुट की एक आंच देने से निरुत्थ हो जाती है।

लोहभस्म जरूर पानी पर तैरे, यह कोई परीक्षा नहीं, इसको याद रखना चाहिये। भस्म का अर्थ राख से है, सूक्ष्म कण होने से है, जो कि शरीर का भाग बन सकें। पुट देने से भस्म सूक्ष्म होती है। यथा—

पुटाद्दोषविनाशः स्याद् पुटादेव गुणोदयः ।
म्रियते च पुटाल्लोहस्तस्मात् पुटं समाचरेत् ॥
यथा यथा प्रदीयन्ते पुटाः सुबहुशो यदि ।
तथा तथा प्रकुर्वन्ति गुणानेव सहस्रशः ॥
दशादिशतपर्यन्तो गदे पुटविधिर्मतः ।
शतादिसहस्रान्तः पुटो देयो रसायने ॥
वाजीकर्मणि विज्ञेयो दशादिशतपंचकः ॥

लोह को तब तक पुट देने का विधान रसेन्द्र ने किया है, जब तक वह पानी पर हंस की तरह न तैरे । इसका अर्थ यही है कि वह अति सूक्ष्म रूप से बारीक हो जाय । यूं तो सावधानी से सूई भी पानी के भरे गिलास में तैराई जा सकती है । सूई पानी पर तैर जाती है, लोहे का जहाज़ पानी पर तैरता है । इसलिये भस्म यदि पानी पर तैर गई, यह मान्यता ठीक नहीं । यह नियम सदा सत्य नहीं दीखता ।

पथ्यापथ्य—त्रिफला और मधु के साथ लोहभस्म सब रोगों में देनी चाहिये । कुष्माण्ड, तिलतैल, उड़द, उड़द के पदार्थ, राई, मद्य, खटाई, मसूर इनको छोड़ देना चाहिये ।

गुण—रूक्ष, शीतवीर्य, बल्य, वृष्य, उदररोग नाशक, कफ पित्तनाशक है । गुल्म, प्लीहा, मेद, वृद्धिनाशक है । परिणामज शूल को (खाने के जीर्ण होने पर होने वाली शूल) नष्ट करने में उत्तम है (**शूलं च परिणामजं हन्ति**) ग्रहणी अतीसार, अर्श में उपयोगी है । मात्रा $\frac{1}{4}$ से २ रत्ती है ।

मुण्ड-किट्ट

यह लोहे का मैल है । जो मुण्ड खोखर रहित, भारी, स्निग्ध, दृढ़ और एक सौ साल पुराना, तथा देर से उजाड़ हुए स्थान में मिलता है, वह उत्तम है ।

शोधन—मुण्ड को बहेड़े के अङ्गारों में गरम करके, बहेड़े के पात्र में रक्खे गोमूत्र में बुझावे । इसप्रकार आठ बार करे । अथवा गोमूत्र में ही बुझावे ।

मारण—मण्डूर का चूर्ण करके त्रिफला क्वाथ से पीस कर पुट देवे । इस प्रकार तीस पुट देने से भस्म हो जाती है ।

गुण—मधु के साथ मण्डूरभस्म कामलारोग नाशक है। पाण्डु, शोथ, हलीमक, कुम्भकामला नाशक, है मात्रा ¼ रत्ती से २ रत्ती तक है।

कान्तपाषाण—चुम्बक

पर्य्याय—कान्तपाषाण, चुम्बक, कान्तोपल, लोहकर्षक राजपट्ट।

शोधन—चुम्बक पत्थर को (लोहे को नहीं) खटाई (निम्बु का रस) मिलावे सुहांजने के क्वाथ में दोलायन्त्र से पकावे। इसप्रकार से यह शुद्ध होता है।

मारण—आयुर्वेदप्रकाश में रसेन्द्र तथा इसका मारण नहीं दिया। उन्होंने तो स्पष्ट कर दिया कि—

१-कान्तपाषाणः पारदोपकृत्।
२-कान्तपाषाणशुद्धौ तु रसकर्म समाचरेत्॥

इसकी मारणविधि लोहे के समान है। अथवा त्रिफला क्वाथ और गोमूत्र में घोटकर पुट देवे। मात्रा २ रत्ती तक है। उपयोग भी लोह के समान है।

आवश्यक बात

नागैः सुवर्णं रजतञ्च ताप्यैः गन्धेन ताम्रं शिलया च नागम्।
तालेन वगं त्रिविधञ्च लोहं नारीपयो हन्ति च हिङ्गुलेन॥

साधारणतः स्वर्ण नाग से, चांदी स्वर्ण माक्षिक से, ताम्र गन्धक से, सीसा मैनसिल से, वंग हरताल से, लोह-मुण्ड-किट्ट तीनों हिंगुल मिलाकर धावन से मारते हैं। इसमें स्वर्ण, रजत, पारे और गन्धक के योग से मारी हुई भी उत्तम मानते हैं क्योंकि-"लोहानां मारणं श्रेष्ठं सर्वेषां रसभस्मना" यह सिद्धान्त है। लोहे को तो हिंगुल से जारित करके बरतना चाहिये।

पारदेन विना लोहं यः करोति पुमानिह।
उदरे तस्य किट्टानि जायन्ते नात्र संशयः॥

नौवां प्रकरण

रत्न प्रकरण

"वैदूर्यमौक्तिकप्रवालकपुष्परागेन्द्रनीलकर्केतरकपद्मरागमरकतप्रभृतीन्रत्नविशेषानन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पिनः। बध्यन्ते जातरूपैः माणिक्यानि। रक्तसूत्रेण ग्रथ्यन्ते मौक्तिकाभरणानि। घृष्यन्ते धीरैः वैदूर्याणि। छिद्यन्ते शङ्खाः। शाणैः घृष्यन्ते प्रवालकाः।"

मृच्छकटि से।

रत्न शब्द की निरुक्ति—धनी मनुष्य रत्नों में अधिक रमण करते हैं—खेलते हैं; इसलिये इसको रत्न कहते हैं।

रत्न नौ हैं; यथा—वज्र, वैदूर्य, मुक्ता, मरकत, विद्रुम, गोमेदक, माणिक्य, नील, पुष्पराग।

रत्नों की भस्म के सम्बन्ध में विचार—इन नौ रत्नों की भस्म नहीं करनी चाहिये। क्योंकि ये रत्न बहुत कीमती हैं। इनकी भस्म से पाप-अपयश होता है। इसलिये—

वज्रादीनां तु संस्कारे क्रियमाणे पतन्ति ये।
गात्रेभ्यः खण्डकाः स्वल्पास्तान् हन्याद् बुद्धिमान् भिषक्।
यद्वा तत्खनिजाता ये तज्जातीयाः सुलक्षणाः।
स्वल्पमूल्यास्तु तेषां हि वधे नास्तीह पातकम्॥ आयुर्वेदप्रकाश

हीरे आदि को काटते समय जो कण गिर पड़ते हैं, उनकी भस्म बनावे। अथवा इन रत्नों की खानों में उसी जाति के, थोड़े मूल्य की जो (खड़) मिलती हैं, उसकी भस्म करने में दोष नहीं है।

शोधन—माणिक्य-कांजी में; मुक्ता जयन्ती के स्वरस में विद्रुम (प्रवाल) क्षारवर्ग से; तार्क्ष्य-गाय के दूध में; पुष्पराग-कुलत्थी के क्वाथ से बने आसव से; हीरा-चौलाई के रस में; नील-नील के रस में; गोमेद-हल्दी के जल में; वैदूर्य-त्रिफला क्वाथ में; दोलायंत्र से स्वेदन देने पर शुद्ध होते हैं।

मारण—वज्र को छोड़ कर शेष रत्नों को मैनसिल, हरताल, गन्धक के साथ बड़हल के रस से पीस कर आठ पुट देवे। इससे सब रत्नों की भस्म हो जाती है।

वज्र-हीरा

वज्र—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भेद से चार प्रकार का है। ब्राह्मण वज्र-श्वेत; क्षत्रिय वज्र-लाली लिया; वैश्य वज्र-पीला; शूद्र वज्र-काला होता है। इसके सिवाय वज्र में स्त्री, पुरुष और नपुंसक का भी विचार है। रेख-बिन्दु से अंकित, कोनदार स्त्री जाति का है। गोल; तेजयुक्त, बहुत बड़ा; रेखा रहित पुरुष है। तिकोना-बहुत लम्बा नपुंसक है।

शोधन—हीरे को कोदा के क्वाथ में या कुलत्थी के क्वाथ में या घोड़े के मूत्र में तीन दिन स्वेदन देवे।

हीरा स्वयं इतना कठिन है कि उसमें अशुद्धि नहीं होसकती। शोधन करने से केवल उसे कोमल एवं चूरा करने योग्य बनाया जाता है। जिससे भस्म हो सके। शोधन में बाह्य शुद्धि मिट्टी आदि तो साधारण रूप में दूर हो जाती है। तीन दिन तक स्वेद देने का अभिप्राय कोमल करने का है।

मारण—(१) हीरा लेकर इसके बराबर पारद, मैनसिल, गन्धक मिला कर पुट देवे। इसको गजपुट देवे। परन्तु दूसरे पुटों में पारद न मिलावे। इसप्रकार चौदह गजपुट देवे।

(२) हीरा, शुद्ध हरताल, शुद्ध मैनसिल प्रत्येक बराबर लेकर, तीन साल के पुरानी कपास की जड़ के क्वाथ से इसको भावित करके गजपुट में पुट देवे। इस प्रकार चौदह पुट देने से भस्म हो जाती है।

(३) कुलत्थी के क्वाथ में हींग और सैन्धवा नमक मिला कर हीरे को गरम करके बार-बार बुझावे। इसप्रकार इक्कीस बार करने से भस्म हो जाती है।

गुण—वाजीकरण में उपयोगी; आयुवर्धक; सर्व रोग नाशक है।

प्रयोग—एक रत्ती हीरकभस्म, चार मासा रससिन्दूर मिला कर एक से दो रत्ती मात्रा में मलाई के साथ ध्वजभंग में देवे। हीरक, स्वर्णभस्म, रससिन्दूर ये तीनों राजयक्ष्मा नाशक हैं। मकरध्वज के साथ क्लीबता नाशक है।

मात्रा—१/६ से १/१६ रत्ती है।

माणिक्य-लाल (पद्मराग)

लाल रंग का माणिक्य उत्तम है।

शोधन—निम्बू के स्वरस में माणिक्य को दोलायंत्र में अथवा कांजी में सुरा प्रदीप पर गरम करने से शोधन हो जाता है।

मारण—माणिक्य के चूर्ण के बराबर हरताल, मैनसिल, गन्धक मिला कर नीम्बू के रस से मर्दन करके गजपुट देवे। इसप्रकार आठ पुटों में भस्म बन जाती है।

गुण—मेध्य, रसायन, वात-पित्तनाशक है। मात्रा १/४ से १/२ रत्ती।

मुक्ता-मोती

उत्तम मोती—चन्द्रमा की तरह निर्मल कान्ति, मोटा, स्निग्ध, गोल, व्रण (खोखर या गाँठ) रहित, निर्मल, वजन में भारी, मोती उत्तम है। नमक और क्षार मिश्रित गोमूत्र में डालने पर भी जो मोती तुषों से रगड़े जाने पर अपनी कान्ति नहीं छोड़ता वह उत्तम है।

शोधन—जयन्ती के स्वरस में, या अगस्त्य के पत्तों के स्वरस में दोलायंत्र से स्वेद देवे।

भस्म—गौ के दूध में या गुलाब के जल में पीस कर तीन पुट देने से भस्म हो जाती है। घीक्वार के रस से भी भस्म बनाते हैं।

गुण—मधुर, अतिशीतल, दृष्टिरोग नाशक, राजयक्ष्मा नाशक, वीर्य-बल-पुष्टि का वर्धक है।

पिष्टी का प्रश्न—आजकल वैद्यलोग मुक्तापिष्टी, प्रवालपिष्टी बनाकर बरतते हैं। इसके लिये मुक्ता या प्रवाल को गुलाब जल में घोट कर सूक्ष्म बनाते हैं। कोई कोई रात्रि में चन्द्रमा की चाँदनी में इस पिष्टी को बाहर रख देते हैं। यह पिष्टी चन्द्रपिष्टी होती है।

पिष्टी की प्रथा यूनानी हकीमों की है। वे अकीक या कहरवा को गुलाब

जल, केवड़े के अर्क में घुटवा घुटवा कर महीन बनाते हैं और अपनी दवाइयों में भी मिलाते हैं। मोती को इसीप्रकार बनवाकर खमीरा मरवारीद तैय्यार करते हैं।

आयुर्वेद में पिष्टी का विधान नहीं। वे भस्म ही पसन्द करते हैं। भस्म करने में जितनी कोमलता, सूक्ष्मता, कम समय में आती है, वह पिष्टी में नहीं आती। यहाँ पर इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि सुश्रुत में मोती को जो पार्थिव कहा है, वह उसकी खरता और काठिन्य के लिये ही है। यह काठिन्य भस्म के बिना जल्दी दूर नहीं होगा। भस्म में चमक चली जाती है, वजन घट जाता है, यह बात उसी तरह है कि शरीर पर तैल मलने से कपड़े काले हो जाते हैं। अरे भाई! कपड़ों के लिये शरीर है; या शरीर के लिये कपड़े हैं। कपड़े महँगे हुए, शरीर का चाहे जो कुछ हो। तुमको मोती की चमक और भार बचाना है, या उसको शरीर के लिये उपयोगी करना है। विना सूक्ष्मतम हुए वह कैसे शरीर का भाग बनेगा। हाँ, यदि तुम पर महीन करने की मशीन है; तो दूसरी बात, फिर सोच लेगें। अब जबतक उतनी बारीक करने के साधन नहीं, तो क्यों तीन-चार पुट का लोभ करते हो। यह मत भूलो—

(१) "पुटाद्दोषविनाशः स्यात् पुटादेव गुणोदयः ॥"

(२) पुटनात् स्यात् लघुत्वं शीघ्रं व्याप्तिश्च दीपनम् ॥

प्रवाल–मूंगा (विद्रुम)

उत्तम प्रवाल—उगते हुए स्वर्ण के समान लालवण, रगड़ने पर भी लाल, खोखल रहित उत्तम है। जो प्रवाल काला, टेढ़ा, पतला, खोखला, रूक्ष, हल्का, छोटा, श्वेतवर्ण होता है, वह अशुभ है।

शोधन—निम्बू या आक के दूध, या घीक्वार से भावना देकर या दोलायंत्र में पकाने से शुद्ध होता है।

मारण—घीक्वार के साथ या बकरी के दूधसे पीस कर पुट देने पर भस्म हो जाती है। जब तक श्वेत भस्म न हो पुट देवे।

गुण—पुट देने के कारण इसमें लघुता आती है, जो पिष्टी में नहीं होती।

मधुर, ईषत् अम्ल (मोती अति मधुर); कफ पित्त नाशक, क्षय, रक्तपित्त, कास नाशक, दीपन, पाचन, नेत्ररोग नाशक।

वैदूर्य, गोमेदक, इन्द्रनील, पुष्पराग आदि का शोधन निम्बू के रस में या कांजी में दोलायन्त्र से स्वेद देकर तथा मारण घीकार या गाय के दूध से पुट देने पर हो जाता है।

गुण—प्रवाल और मोती के समान हैं। चरक में रक्तपित्त में वैदूर्य के (विल्लौरी) पत्थरका स्पर्श करनेको कहा है-"वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानाम्" ये शीतल हैं, इसलिये क्षय में उपयोगी हैं।

वैक्रान्त (तुरमुली)

यह हीरे के समान कठोर होता है; हीरे का प्रतिनिधि है।

शोधन—कुलत्थी के क्वाथ में स्वेदन देने से इसका शोधन होता है।

मारण—गन्धक और निम्बू के रस से घोंट करके आठ पुट देने पर भस्म हो जाती है।

गुण—क्षय-कुष्ठ-ज्वर-नाशक।

रत्न सम्बन्धी विचार—

रत्न अति कठोर वस्तु है। इसके अन्दर मलिनता होना (बाह्य) अति कठिन है। इसलिये शोधन का विधान बाह्य लगी मलिनता को दूर करने के साथ, इसको कोमल बनाने से है। जिससे इनका मारण सुगमतासे हो जाय। जिस प्रकार लोह अभ्रक आदि अग्नि पर गरम करने से और शोधनीय द्रवों में डालने से टूट जाते हैं, उसी प्रकार इन रत्नों को नरम बनाकर भस्म रूप किया जाता है।

मोती कई प्रकार के प्रसिद्ध हैं। प्राचीन काव्यों में गजमुक्ता का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार वराह (सूअर) में, बांस में, मछली में, कमल में, छोटे शंख में, सांप में, तोते में भी मोती मिलता है, ऐसा कहा है। परन्तु मुख्यतः सीप के मोती का ही प्राचुर्य है। आजकल यह मोती बसरा का आता है। यही मोती औषध में लोग व्यवहृत करते हैं। यह मोती दूसरे मोती की अपेक्षा कठोर होता है। यह भेद समुद्रके पानी का है। जैसे—देहरादून के वासमती में दूसरे स्थान के वासमती से भेद रहता है। प्राचीन काल में लंका से मोती निकलता था।

मुक्ता, प्रवाल, सीप, मुक्ताशुक्ति, शंख, वराटिका–ये सब पानी में उत्पन्न होते हैं और सब शीतल हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से सब को कैलसियम कहते हैं। भले यह शोध ठीक हो, परन्तु ऊन मारवाड़ में भी होती है, पंजाब के अम्बाला, करनाल में भी मिलती है, शीतप्रधान काश्मीर देश में भी मिलती है; तथा काश्मीर से उंचे बर्फीले पर्वतों पर भी होती है। इन ऊनों में भेद है; इनकी गरमी में भेद है, रेशे में भेद है और टिकाऊपन में भेद है। इसी प्रकार बलसाड़–सूरत–नवसारी की रूई का रेशा लम्बा, बारीक आता है, परन्तु पंजाब की रूई का रेशा मोटा, छोटा आता है। पंजाब की रूई में जो गरमाहट है, वह नवसारी की रूई में नहीं है। धुनका (धुनियां) नवसारी की रूई को धुनना पसन्द नहीं करता, रेशा लम्बा होने से वह तांत को छोड़ती नहीं। रजाई भरने में पंजाब की रूई और कातने में नवसारी की लम्बे रेशे की रूई उत्तम है।

जब स्थान, ऋतु भेद से रूई और ऊन में इतना स्पष्ट अन्तर है, फिर समुद्र के किनारे मिलने वाली वस्तु में और समुद्र की अथाह तह में सीप के सम्पुट में बन्द मिलने वाली वस्तु में, उसके गुणों में क्या अन्तर नहीं होगा? भूटान का ऊन और राजपुताने का ऊन–एक समान गरमी नहीं देता। भले ऊन, ऊन एक हो। इस पर विचार करें।

आयुर्वेद में इसी लिये देश, काल का विचार है। अन्ध विश्वासी मत बनो। शास्त्र पर प्रकृति की रसायनशाला से विचारना उत्तम है। मुक्ता और शंख भले कैलसियम हों, परन्तु ऊन की भांति दोनों के गुणों में अन्तर है। अधिक नरम–गरम ऊन लेना हो तो भूटान का खरीदो। क्षय में उत्तम कैलसियम देना हो तो मोती दो। खुरदरी, कम गरम ऊन लेना हो तथा पैसे कम देने हों तो मारवाड़ का ऊन लो। साधारण रूप में कैलसियम देना हो तो शंख, वराटिका को फूंक कर दे दो।

शंख, वराटिका (कौड़ी), सीप

इनका जारण और मारण प्रायः एक सा ही है। इनमें वराटिका–पीले रंग की गांठ वाली; लम्बे किनारे की, चार माषा वजन की कौड़ी उत्तम है। एक माषा वजन की मध्यम है।

शोधन—इन सब द्रव्यों को निम्बूके रस से मर्दन करने पर या कांजी से दोलायंत्र में स्वेद देने से शोधन हो जाता है।

मारण—चौकार में रगड़ कर सम्पुट में रख कर पुट देवें। गाय के दूध से भी रगड़ कर पुट देने पर श्वेत भस्म हो जाती है। कोई कोई आक के दूध के पुट देते हैं।

गुण—आंखों के अंजन में उपयोगी है। छीप की भस्म, शूल (उदरशूल) नाशक है। गुल्म नाशक, प्लीहा नाशक, अग्निमान्द्य नाशक है।

मुक्ता शुक्ति की भस्म-साधारण छीप की भस्म से उत्तम है; मोती से हीन गुण है।

मृगशृंग

भारवाले (खोखले नहीं), अनेक सिंगोवाले मृगसींग को लाकर आरी से काट कर टुकड़े करले। इन टुकड़ों को एरण्ड तैल में भिगोकर जला देवे। जलने पर इनके काले रंग की भस्म को लेकर आक के दूध से रगड़कर पुट देवे। जब तक श्वेत निर्मल भस्म न हो, तब तक इसी प्रकार करे।

गुण—हृदयशूल, पार्श्वशूल नाशक है। अनुपान मधु या गाय का घी। मात्रा ३ से ४ रत्ती।

प्रकरण दसवां

विषोपविष-प्रकरण

इस प्रकरण में बरतनेवाले-आयुर्वेद में प्रायः काम आने वाले विष वत्सनाभ (मीठातेलिया) विषतिन्दुक (कुचला), जयपाल, धत्तूरा, भांग, अफीम, भिलावा, ये हैं। प्रायः करके इनका शोधन गो मूत्र में हो जाता है; विशेषतः वत्सनाभ और विषतिन्दुक का। जयपाल में से तैल का अंश कम करने के लिये टंकण या चूना (क्षार), गोमूत्र में मिला देते हैं। भिलावे में भी तैलीय अंश ही विष का कारण है। भांग और अफीम में से मिट्टी दूर करने के सिवाय इनकी तीक्ष्णता (मादक प्रवृत्ति) को कम करना उद्देश्य है; यही बात धत्तूरे के साथ है।

यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना होगा कि वत्सनाभ-मीठातेलिया-पाश्चात्य चिकित्सा में हृदय को मन्द करता है। परन्तु आयुर्वेद में शोधित वत्सनाभ ऐसा नहीं करता। इसके साथ ही वत्सनाभ के साथ प्रायः सब योगों में रससिन्दूर या

हिंगुल का योग आपको मिलेगा। इसलिये इस विषय में अधूरे ज्ञान पर भरोसा मत रखना। गोमूत्र अपने गुणों से विषके अवगुण को कम कर लेता है—खासकर तीक्ष्णता को।

वत्सनाभ जहां होता है, उसके आस पास तक इसकी गरमी के कारण दूसरा कोई क्षुप या वनस्पति नहीं होती। केवल एक निर्विषी (त्रिपादिका) होती है यह एक छोटी सी गांठ होती है; इसके तीन पैर-तीन शाखायें होती हैं। इस पर विष का प्रभाव नहीं होता। पहाड़ी लोग इसको वत्सनाभ के विष में काम लाते हैं।

वत्सनाभ का शोधन—मीठा तेलिया भार वाला लम्बा लेकर टुकड़े करके गोमूत्र में तीन दिन तक डुबो कर रखना चाहिये। प्रतिदिन गोमूत्र नया वरतना चाहिये। इसके पश्चात् तीव्र धूप में पूरा सुखावे, जलीयांश न रहे। कोई कोई गोमूत्र में दोलायंत्र से स्वेद देकर भी शोधन करते हैं। इस विधि में दस तोला वत्सनाभ चौबीस घण्टे तक पकाना पड़ता है।

गुण—योगवाही तिक्त उष्ण, रसायन और वात-कफ नाशक है। मात्रा १/१६ से १/८ रत्ती है। इसका वाह्य लेप (अशुद्ध रूप में घिस कर करने पर पीछे से अरण्य उपलों से सुखा देने पर) पार्श्वशूल, हृदयशूल, घुटने की दर्द की उत्तम औषधि है। इसके लिये मीठेतेलिये की गाँठ को गोमूत्र में या पानी में घिस कर थोड़ा गरम करके लेप करें। और फिर स्थान को गोहरे की आँच से दूर पकड़ कर ही सुखा दें। यह प्लुरसी में अच्छा लाभ करता है।

एकांग वात में १/२ रत्ती (गोमूत्र में शोधित) वत्सनाभ दूध से देने में लाभ देखा गया है।

विषतिन्दुक (कुचला) का शोधन—इसके बीज बहुत कठोर होते हैं। इनको पोटली में बांधकर गोमूत्र में बहुत देर पकावे अथवा तवे पर घी डाल कर इनके बीजों को भून ले। ऊपर का छिलका चाकू से उतार देना चाहिये। इन बीजों को धूप में सुखाकर कूटना चाहिये। गोमूत्र में स्वेदन देने से पूर्व टुकड़े कर लिये जांय तो उत्तम है।

गुण—उष्ण, तीक्ष्ण, कटु, दीपक, उग्रवीर्य, कामोद्दीपक, भूख बढ़ाने वाला हैं। मात्रा १/४ से १ रत्ती। रसतरंगिणीकार ने नवजीवनरस, इसका उत्तम योग दिया है। अग्नितुण्डी प्रसिद्ध योग है।

जयपाल का शोधन—जयपाल को नया (दन्ती बीज) लेकर इसके बीजों को त्वचा के ऊपर के छिलके को उतार कर इसके अन्दर की झिल्ली-पतरी को निकाल देना चाहिये। यह काम बाँस की चिमटी से करें अथवा हाथों पर नारियल का तेल लगाले। फिर इन बीजों को पोटली में बाँधकर गोदुध में दोलायंत्र से पकावे। अथवा निम्बूके रस में पीसकर मिट्टी के नवीन घड़े की तली पर लेप करके या स्याहीचूस पर फैलाकर धूप में सुखा देना चाहिये। इससे तैल की मात्रा कम हो जायगी, जिससे इसकी तीक्ष्णता जाती रहेगी। इसका उपयोग इच्छाभेदी या जलोदरारि रस में तीव्र विरेचन के लिये होता है।

भिलावे का शोधन—पके हुए, भारी, पानी में डूबने वाले भिलावे के फल लेकर इनकी टोपी को कैंची से काट देवे। फिर इनको ईंट के चूरेके साथ कूटकर (दर दरा करके) गरम गरम पानी से धोये। धोकर इनको नारियल के पानी में उबाले। इससे यह शुद्ध हो जाता है। हाथों पर तेल का प्रभाव न हो, इस लिये नारियल का तेल लगाना चाहिये। शरीर पर इसका विषैला प्रभाव होने पर नारियल का पानी पिवे, नारियल खावे, नारियल का तेल या भैंस का मक्खन मले।

तिल, चिलगोजा, अखरोट, बादाम, पिस्ता-इन तैलीय वस्तुवों के साथ शुद्ध किया भिलावा उचित मात्रा में, उचित शीत काल में लेनेपर वृष्य, वात-कफ नाशक है। भिलावे को इन द्रव्यों के साथ कूट लेना चाहिये।

विशेष—नारियल के पानी के स्थान में चूने के पानी में भी उबालते हैं। परन्तु नारियल का उपयोग श्रेयस्कर है।

धतूरा—धतूरे के काले बीज दोलायंत्र में गाय के दूध से, या गो मूत्र में स्वेदन देने पर शुद्ध होते हैं।

भांग—भाँग की पत्ती को पानी से भलीप्रकार मसलकर धोवें। जब हरा रंग न आवे तो थोड़े से घी में भूनने से शुद्ध हो जाती है।

अफीम—अफीम को पानी में घोलकर वस्त्र में छान ले। इसमें गाय का दूध मिलाकर घट्ट बना लें। इस अफीम को आर्दक के रस में पीस कर वरते।

विचारणीय वस्तु—बच्चों के लिये यह उत्तम औषध है। इसके देने से बच्चों को दस्त, वमन नहीं होता। जिगर की शिकायत कम होती है। अफीम खाने वाले के व्रण-जख्म नहीं सड़ते। अफीम से रक्त घट्ट; कड़ुआ होने से कृमि

अपना आक्रमण नहीं करते। खून कम बहता है। इसीसे राजपूत क्षत्रिय खाते थे। अफीम बच्चों को देने से दूध ठीक तरह पचता है। अफीम खाने वाले के लिये दूध आवश्यक है। परन्तु इसको कभी कभी थोड़ी मात्रा में देना चाहिये। वह भी जरूरत होने पर। इसीसे कहा है—

विषं प्राणहरं प्रोक्तं व्यवायि च विकासि च।
आग्नेयं वातकफहृद्योगवाहिमदावहम्॥
तदेव युक्तियुक्तं तु प्राणदायि रसायनम्।
पथ्याशिनां त्रिदोषघ्नं बृंहणं वीर्यवर्धनम्॥

अफीम, भांग, धतूरे की हानि देखते हुए, पाश्चात्य अनुकरण करने में आयुर्वेद के युक्ति युक्त शब्द को मत भूलिये। यह युक्ति भांग खाने वालों से, अफीम देने वाली बुड्ढी माताओं से सीखकर-पूछकर देखना। फिर देखना कितने मरते हैं और कितने बचते हैं; कितनों को जिगर होता है, और कितनों को नहीं होता।

अफीम से जिस बच्चे की तन्दुरुस्ती पर प्रभाव नहीं पड़ता, दस्त बन्द नहीं होते, दूध नहीं पचता, उसे किसी भी दवा से लाभ नहीं होता। इसलिये चरक में इसको रसायन कहा है; अर्थात् बुढ़ापे और रोग से बचाता है। अफीम खाने वाले शायद ही ब्लडप्रेशर, डायबटीज़ से पीड़ित हुए हों। प्राय; ये लोग लम्बी आयु भोगते हैं। इनको कोई दूसरा रोग भले हो जाय, परन्तु वायु और कफ के रोग कम होते हैं। इस देश में गरीबों की, लखनऊ के नवाबों की, अमीरों की, बेफिकरों की जिन्दगी का यह सहारा है। इसे युक्ति से बरतने दें। युक्ति को ये लोग परम्परा से सीख लेते हैं। मुझे या आप को इसके खाने की युक्ति उनको बताने की ज़रूरत नहीं। उनका गुरू अफीमची ही होगा। हम तो शास्त्र विवेचना कर रहे हैं। सो अफीम युक्ति पूर्वक बरतने पर रसायन है, यह शास्त्र वचन सत्य है। *वैसे अफीम विष है, ओज को कम करने वाली है। इसलिये ओजवर्धक दूध का उपयोग विशेष रूप में इसके साथ करना ही चाहिये।

---

* विस्तार के लिये लेखक की—"भोजन समस्या" देखें।

परिशिष्ट

*यंत्र विधि

"यंत्रणात्-यंत्रम्—यंत्रण करने से, रोकने से, या बांधने से इसे यंत्र कहते हैं। इन यंत्रों में पारा, सोना आदि बांधे जाते हैं, इसलिये इनको यंत्र नाम दिया गया है।

काम में आने वाले मुख्य यंत्र निम्न हैं:—

मूषा—इसको कुमुदी कहते हैं। इसमें रखने से वस्तु के दोष नष्ट किये जाते हैं। साधारणतः इसकी कुठारी कहते हैं। यह लोहा, ताम्बा आदि धातुओं को पिघलाने के काम में आती है। बाज़ार में ये बनी बनाई अच्छी मजबूत मिलती हैं। तेज अग्नि पर भी ये टूटती नहीं। इनको बरतना चाहिये।

पुट—दो सम्पुटों में वस्तु को रखकर आग में भस्म करना पुट देना है। ये प्राय: मिट्टी के बने होते हैं। आँच की भिन्नता से महापुट, गजपुट, वराहपुट, कुक्कुटपुट, लावकपुट आदि भेद हैं। पुट देने में आधे अरण्य उपलें नीचे और आधे पुट के ऊपर रखते हैं। इसमें ऊपर और नीचे दोनों से आँच लगती है। आँच की राशि द्रव्य के ऊपर निर्भर है।

पुट देने में भस्म या द्रव्य को टिकड़ी पतली बनाकर धूप में सुखाकर रखनी चाहिये। चूरा या गीला द्रव्य पुट में नहीं रखना चाहिये। पुट में द्रव्य शराव के अनुसार रखना चाहिये। बहुत अधिक मात्रा होने पर द्रव्य पूरी तरह भस्म नहीं होता। सोना, चाँदी धातु को पहले तेज, फिर उतरोत्तर हल्की आँच देनी चाहिये। नाग और वंग में पहले मृदु आँच और फिर उतरोत्तर तीव्र आँच देनी चाहिये। अभ्रक, लोह, ताम्र को पहले से अन्त तक तीव्र अग्नि देनी चाहिये। दोलायंत्र, ऊर्ध्वपातन, अधःपातन, तिर्यक् पातन, कच्छप यंत्र, पाताल यंत्र,

* यंत्रविधि, परिभाषा ये दोनों 'द्रव्यगुण विज्ञानीय' उत्तरार्द्ध खण्ड (परिभाषा खण्ड) में देखना चाहिये।

खरल, वालुका यंत्र ये सब यंत्र क्रियात्मक रूप में गुरु के सामने देखने और करने में सुगमता से ज्ञान हो जाता है। जिसको बहुत इच्छा हो, वह रसतरंगिणी या रसेन्द्र के आरम्भ में देख लें।

परिभाषा प्रकरण*

प्रत्येक शास्त्र की एक परिभाषा होती है। उदाहरण के लिये **योग** शब्द गणित में दो और दो को जोड़ने में आता है। पातंजल शास्त्र में योग शब्द चित्त वृद्धि के निरोध के लिये है। गीता में '**समत्वं योग उच्यते**' कहा है। इसी प्रकार चरक में आया रसशब्द–मधुर आदि रसों में बरता जाता है। रसशास्त्र में आया रस शब्द पारद के लिये है। इसलिये रसशास्त्र की परिभाषा अलग है। इस शास्त्र के परिभाषा प्रकरण को श्री वैद्य यादव जी त्रिक्रम जी आचार्य ने द्रव्यगुण-विज्ञान उत्तरार्ध खण्ड में विस्तार से समझा दिया है। उसे वहीं पर देख लेना चाहिये।

अन्त में इतना ही कहना है कि—

"नास्ति आयुर्वेदस्य पारं; तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत्॥"

(चरक)

---

* चरक की दृष्टि से रस का लक्षण "रसनार्थो रसः" या "रसनेन्द्रियग्राह्य-जातिमत्वं रसत्वम्" है।

रसशास्त्र में–'रसनात् सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते'–यह व्युत्पत्ति की है।